प्रथम संस्करण मार्च १९६४

मुद्रक मो प जोशी
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय
३८७ नारायण पेठ पुणे २

निरंजनी संप्रदाय

और

सन्त तुरसीदास निरंजनी

डॉ. भगीरथ मिश्र, एम् ए., पीएच् डी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पूना-विश्वविद्यालय

: प्रकाशक :
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

विषयानुक्रम

विवेचन

बानी-संग्रह

भूमिका

काव्य अथवा साहित्यका उद्देश्य हमारी सुप्त अनुभूतियोको जाग्रत करना और अनुभूतियोका कार्य विभिन्न प्रकारका रसास्वादन है। ससारकी प्रत्येक भाषाके साहित्य-सृजनमे यही अनुभूतिजन्य आनद आधार रूपमे रहता है। अतएव साहित्यका लक्ष्य आनद-दान है। जीवनके दो रूपोंके आधारपर साहित्यके भी दो स्वरूप देखनेमें आते हैं---प्रथम यथार्थात्मक और द्वितीय आदर्शात्मक। यथार्थात्मक साहित्य जीवनके सुख-दु ख, सघर्ष, सहानुभूति, प्रेम, उदासीनता आदि प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न ससारकी यथार्थ स्थितिके तीव्र अनुभव कराता है। समस्याएँ इतनी सच्ची होकर आती है कि अपनी लगती हैं और उन सबके बीच व्यक्तिकी सफलता और विफलता, सवलता और निर्बलता प्रत्यक्ष रूपसे खेलती हुई मिलती है। हमारी अनुभूतियाँ उकसती हैं, किंतु उन्हे सतोष व सात्वनाके स्थानमे टीस और निराशा मिलती है। हम किसीकी निर्बलतापर हँसते हैं, कभी किसीके दु खपर रोते हैं। इसमें कभी मानव-जीवनके प्रति प्रेम और कभी घृणाके भाव जाग्रत होते हैं और ये सब क्षणस्थायी होकर जाते हैं, चिरस्थायी रूपमे नही। इस प्रकारके साहित्यमे अपनी परिचित परिस्थितियोंसे हटकर नवीन परिस्थितिमे पहुँचनेका मनोरजक आनद मिलता है।

किंतु आदर्शात्मक साहित्य इस सघर्ष और समस्यापूर्ण जीवनके मध्यमे एक आदर्श चरित्रका प्रकाश-स्तभ स्थापित करता है। उसको समस्याओका बवडर व्यथित नही करता। उसमे कुछ आदर्श गुणोका विशेष समन्वय रहता है, अत हम अँधियारी उठानेवाली परिस्थितियोके अवसरपर उसके प्रकाशमे चलनेका प्रयास करते हैं। इस प्रकारके साहित्यमे हमे समस्याओंकी सुलझाव-विधि भी मिलती है। यथार्थपरक साहित्यमे ससारके ज्ञान, अनुभव, क्रीडा व लीलाकी ओर कुतूहलता बढती है, किंतु सत्यतामे इन सबके अतरमे एक वेदनाकी धारा-सी बहती दृष्टि आती है। अत इस जीवन-सघर्ष प्रवचना-जन्य जटिलतासे ऊबकर जब कवि एक अपना ससार निर्मित करता है, तब वह आदर्शात्मक साहित्यकी सृष्टि करता है। इसमे हमे प्रथम प्रकारके साहित्यकी भाँति अनुभूतियोंकी टीस नही मिलती, किंतु एक प्रकारका जीवनका अभाव-सा पूरा होता है। सत-साहित्य आदर्शपरक साहित्य है, उसमें विकलताके अवसरपर भी हमे सात्वना एव समरसता प्रदान करनेकी शक्ति रहती है।

तुलसी सँकल्प जनम है विकल्प मरन समान
जनम मरन यह हम कहा और कभी कोउ भाव ।

वक्तव्य

निरजनी सप्रदायके प्रति मेरी रुचि सन् १९४० ई. मे जागृत हुई जब कि स्वर्गीय डॉ पीताम्बर दत्त वडथ्वालके सकेत और सुझावपर मैंने एम् ए के शोध-निबधके रूप इस सप्रदायके प्रमुख सत तुरसीदास निरजनीका अध्ययन किया था । एम् ए परीक्षाके उपरात भी मैं अपने पीएच् डी शोध-कार्यके साथ-साथ निरजनी सप्रदायपर कुछ कार्य करूँ ऐसा सुझाव भी डॉ वडथ्वालका था और उसी समय सत तुरसीदासपर लिखे निबध और उनकी वाणीका चुना हुआ सग्रह प्रकाशित करनेके अभिप्रायसे नागरी प्रचारिणी सभाको उन्होंने लिखा भी था । मैं सग्रहका कार्य प्रारभ ही कर रहा था कि उसी समय अचानक डॉ वडथ्वालजीका स्वर्गवास हो गया और वह कार्य पडा रह गया ।

इसके उपरात सन् १९४५ ई मे जब मैंने अपना पीएच् डी का कार्य पूरा कर लिया था उस समय लखनऊ विश्वविद्यालयके हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ दीन-दयालुजी गुप्तके परिश्रम और प्रयत्नके फलस्वरूप तत्कालीन कुलगुरु आचार्य नरेन्द्र देवके सरक्षणमे लखनऊ विश्वविद्यालयके हिंदी प्रकाशनका श्रीगणेश हुआ । वह मेरा सौभाग्य था कि इस प्रकाशनके अतर्गत सबसे पहले मेरा शोध-प्रबध प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका स्वय आचार्यजीने लिखी थी । उसके बाद लखनऊ विश्वविद्यालयके प्रकाशनके अतर्गत अनेक बहुमूल्य ग्रथ प्रकाशित हुए और उसी समय जब मैं लखनऊ विश्वविद्यालयका ही एक अध्यापक था, प्रकाशन समितिके सदस्यो–विशेष रूपमे डॉ प्रेमनारायण टण्डनने यह आग्रह किया कि सत तुरसीदास निरजनीपर मेरी पुस्तक प्रकाशित हो जाए । मैंने उसको स्वीकार भी कर लिया था परतु इसी बीच मुझे लखनऊ छोडकर पूना आना पडा । यहां आनेपर मुझे निरजनी सम्प्रदायका प्रभूत साहित्य प्राप्त हुआ, अत मैंने पुस्तकका नाम 'निरजनी सम्प्रदाय और तुरसीदास निरजनी' रखना अधिक उपयुक्त समझा । इसकी कुछ सूचनाएँ मेरी जयपुर यात्रासे भी उपलब्ध हुई हैं जिसके अतर्गत मुझे दादू महाविद्यालयके आचार्य स्वामी मगलदासजीसे साक्षात्कार करनेका अवसर मिला था । इस बीचमे निरजनी सम्प्रदायपर कुछ शोध-कार्य भी प्रारभ हुए हैं, अत मैंने यह आवश्यक समझा कि इस सबधमे जो जानकारी मेरे पास है उसको मैं शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर दूं, अतएव यह पुस्तक प्रस्तुत है । इसके मुद्रणमे विलब न हो इसलिए डॉ गुप्त और प्रकाशन समितिके सचालक डॉ टण्डनने मुझे यह अनुमति दी कि पूनामें ही मैं इसके मुद्रणकी व्यवस्था कर लूं, इसके लिए मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ । निरजनी सम्प्रदायके सबधमे कोई सूचना अथवा सुझाव यदि कोई सज्जन देनेकी कृपा करेंगे तो मैं उसका स्वागत करूँगा ।

पूना
बसत पचमी स २०२० }

भगीरथ मिश्र

विषयानुक्रम

विवेचन

बानी संग्रह

भूमिका

काव्य अथवा साहित्यका उद्देश्य हमारी सुप्त अनुभूतियोको जाग्रत करना और अनुभूतियोका कार्य विभिन्न प्रकारका रसास्वादन है। ससारकी प्रत्येक भाषाके साहित्य-सृजनमे यही अनुभूतिजन्य आनद आधार रूपमे रहता है। अतएव साहित्यका लक्ष्य आनद-दान है। जीवनके दो रूपोंके आधारपर साहित्यके भी दो स्वरूप देखनेमें आते हैं—प्रथम यथार्थात्मिक और द्वितीय आदर्शात्मिक। यथार्थात्मिक साहित्य जीवनके सुख-दु ख, सघर्ष, सहानुभूति, प्रेम, उदासीनता आदि प्रवृत्तियोसे उत्पन्न ससारकी यथार्थ स्थितिके तीव्र अनुभव कराता है। समस्याएँ इतनी सच्ची होकर आती हैं कि अपनी लगती हैं और उन सबके बीच व्यक्तिकी सफलता और विफलता, सबलता और निर्बलता प्रत्यक्ष रूपसे खेलती हुई मिलती है। हमारी अनुभूतियाँ उकसती हैं, किंतु उन्हें सतोष व सात्वनाके स्थानमें टीस और निराशा मिलती है। हम किसीकी निर्बलतापर हँसते हैं, कभी किसीके दु खपर रोते हैं। इसमें कभी मानव-जीवनके प्रति प्रेम और कभी घृणाके भाव जाग्रत होते हैं और ये सब क्षणस्थायी होकर जाते हैं, चिरस्थायी रूपमे नही। इस प्रकारके साहित्यमे अपनी परिचित परिस्थितियोंसे हटकर नवीन परिस्थितिमे पहुँचनेका मनोरजक आनद मिलता है।

किंतु आदर्शात्मक साहित्य इस सघर्ष और समस्यापूर्ण जीवनके मध्यमे एक आदर्श चरित्रका प्रकाश-स्तभ स्थापित करता है। उसको समस्याओका ववडर व्यथित नही करता। उसमें कुछ आदर्श गुणोका विशेष समन्वय रहता है, अत हम अँधियारी उठानेवाली परिस्थितियोके अवसरपर उसके प्रकाशमें चलनेका प्रयास करते हैं। इस प्रकारके साहित्यमे हमे समस्याओकी सुलझाव-विधि भी मिलती है। यथार्थपरक साहित्यमें ससारके ज्ञान, अनुभव, क्रीडा व लीलाकी ओर कुतूहलता वढती है, किंतु सत्यतामे इन सबके अतरमे एक वेदनाकी धारा-सी वहती दृष्टि आती है। अत इस जीवन-सघर्ष प्रवचना-जन्य जटिलतासे ऊबकर जव कवि एक अपना ससार निर्मित करता है, तव वह आदर्शात्मक साहित्यकी सृष्टि करता है। इसमे हमे प्रथम प्रकारके साहित्यकी भाँति अनुभूतियोकी टीस नही मिलती, किंतु एक प्रकारका जीवनका अभाव-सा पूरा होता है। सत-साहित्य आदर्शपरक साहित्य है, उसमे विकलताके अवसरपर भी हमे सात्वना एवं समरसता प्रदान करनेकी शक्ति रहती है।

संत-साहित्यके सान्त्वनाप्रद होनेका रहस्य क्या है यह विचारणीय है। संत लोग जीवनमें सत्यताके खोजी होते हैं। उनकी सत्यता भौतिक या वैज्ञानिक सत्यता नहीं वरन् भावात्मक अथवा आध्यात्मिक सत्यता है। उनकी अलौकिक अनुभूतियाँ और तत्त्वदर्शी दृष्टि जिसको साधारण जन लौकिकतामें डुबोकर कुंठित कर डालते हैं तीखी रहती है और वे निर्लिप्त भावसे सत्यका समीक्षण कर सकते हैं एवं वास्तविकताकी अनुभूति कर सकते हैं। आदर्श सत्यके बिना नहीं टिकता। अतः वे इसी चिर सत्यकी नींवपर जीवनका आदर्श खड़ा कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास महात्मा सूरदास तथा अन्य सगुणोपासक संतोंका साहित्य इसी प्रकारका है जो संसारके सम्मुख ऐसे आदर्शकी सृष्टि करता है जिसको समझने और उसके अनुसार कार्य करनेमें सामान्य संसार पूर्णतया समर्थ नहीं। अतः जीवनका ऐसा रूप प्रस्तुत करनेवाले व्यक्तिकी साधना कितनी विशाल होती है, इसका तो अनुमान भी कठिन है।

यही साधना बढ़ते-बढ़ते इस संसारके लिए उपस्थित किये गये साकार आदर्शोंको छोड़कर अपने अंतर्गत ही एक अपूर्व और अलौकिक आभाको देखनेमें तत्पर हो जाती है। यह आत्मशुद्धि और आत्मसंयमनका पथ है। इस प्रकारसे साधककी वह शक्ति जिसने कि प्रथम अवस्थामें आदर्श अंकित करनेकी प्रेरणा दी थी अपने लौकिक कार्यमें न रहकर अलौकिक शक्तिमें ही पूर्ण विश्राम लेती है। यही शक्ति साधनाकी सूक्ष्मतर अवस्था निराकार परमात्माकी उपासनामें अग्रसर करती है। वह अपने अंतर्गत ही कुछ सूक्ष्म अनुभव करनेमें समर्थ होता है और उसका आनंद शारीरिक न होकर आत्मिक हो जाता है। इसी आनंद और अनुभूतिका प्रकाशन हमें निर्गुण एवं निरंजन-धाराके काव्यमें मिलता है।

भक्ति-साहित्यमें प्रवृत्ति और निवृत्ति भेदसे दो धाराएँ हैं। प्रवृत्ति धाराके अवगाहक परमात्माकी सगुण रूपमें उपासना करते हैं। वे परमात्माकी खोज अपने अन्तःकरणमें ही न करके बाहर भी उसकी विभूतिका दर्शन करते हैं किन्तु निवृत्ति धाराके उपासक उसकी निर्गुण सत्ताके अनुभवमें ही व्यस्त रहते हैं। संसार उनके लिए मायारूप है। यहाँ तक कि अधिकांश तो उसका सम्पूर्ण स्वरूप ही अपनी साधनामें बाधक समझते हैं। फलतः विभूतिको छोड़कर सम्पूर्ण बाह्य संसार उनके लिए मायाका जाल है और वे अपने ही अन्तरमें रहकर परमेश्वरका अनहद नाद सुनते हैं और उसीमें सर्वोच्च आनन्द प्राप्त किया करते हैं।

निर्गुणियोंका यह मार्ग अनुभव और ज्ञान विचारका भी रहता है और यहाँ वैष्णव भावना भक्त [illegible] आ जाता है कि सगुण और निर्गुण रूपसे भक्ति [illegible]। [illegible] आवश्यक है। सगुण भक्तोंने परमात्माका सुंदर स्वरूप आँखोंके सामने रखा और [illegible] सुंदर रूपकी [illegible] कर उसकी [illegible] अनुभव किया है। राम और कृष्णके रूपमें अवतारों की

यही नेत्र-रजनताका भाव आरोपित है। किंतु निवृत्तिमार्गी अपनी श्रवणशक्तिके सहारे, काल्पनिक आदर्शसे अनुभूत एक मधुर नादका श्रवण करते हैं और यही उनका अनहद नाद है। उनकी चरमसिद्धि उसीमे तन्मयता है, जबकि सगुण भक्तोंके लिए उसी सौंदर्यके आदर्शका आँखोंके सम्मुख उपस्थित हो जाना भक्तिका चरम अनुभव होता है। निर्गुणीका उसमे मिल जानेका प्रयत्न है जबकि सगुणीका केवल दर्शन और सतत साक्षात्कार। अत एकमे अद्वैत और दूसरेमे द्वैत भावनाका रूप विद्यमान है।

श्रवणशक्ति अन्तर्मुखी है। उसका आनद अपने अतर्गत विशेष है, जबकि नेत्र या दर्शनकी शक्ति बाह्यमुखी है और उसका आदर्श भी अतर्मुखी न होकर विशेष रूपसे बाह्य है। इसी कारणसे सगुणोपासना सरलगाह्य, और निर्गुणोपासना सूक्ष्म एव कष्टसाध्य है। इन दो शक्तियोंके इसी स्वभावके कारण ही उपासना विधिमे अतर है। सगुणोपासक परमात्माका बाहरकी विशाल सत्तामे ही दर्शन करनेके स्वप्न देखना है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं —

पैज परे प्रहलादहुके प्रकटे प्रभु पाहनते न हियेते।

दूसरे प्रकारके भक्त सदैव उसको अपने अतरमे ही ढूँढते हैं। कबीर कहते हैं —

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसे घटमें पीव है, दुनिया जाने नाँहि॥

ये क्रमश साधनाकी भक्ति और ज्ञान-प्रधान धाराएँ हैं। अपने अतर्गत ही ढूंढ़नेमे अपनेको ब्रह्ममय समझनेमे अहभावके समावेश होनेका डर रहता है, जबकि सगुण उपासनामे साधकका व्यक्तित्व पूर्ण रूपसे विकसित नही होता। एक सगुणोपासक परमात्माके दर्शन ही कर सकता है, उसमे तन्मय नही होता। इसी तन्मयताको कुछ कुछ स्पर्श करनेवाली हमे मीराँ और चैतन्यकी मध्यकी प्रणाली मिलती है। मीराँ जहाँपर कृष्णका सगुण स्वरूप लेकर कहती है —

बसो मेरे नैननमें नन्दलाल।
मोहिनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने विशाल।
छुद्र घटिका कटितट सोभित, नूपुर शब्द रसाल॥ इत्यादि

वहाँ वह यह भी गा उठती हैं —

मेरे पिय मोंहि माहि बसत है, कहूं न आतो जातो।

तथा

गगन मण्डलमें रहनि पियाकी किसविधि मिलना होय।
सूली उपर सेज पियाकी किस विधि सोवन होय॥

अथवा

सुरति निरतिका दिवला सँजोले, मनसा की करि बाती।
प्रेम हटीका तेल बना ले, जगा करे दिन राती॥

यहाँ तक कि वे निर्गुण ब्रह्मोपासीका भी प्रबोध करती हैं –

> त्रिकुटी महलमें बना है झरोखा तहँसे झाँकी लगाऊँरी ।
> सुन्न महलमें सुरत जमाऊँ, सुखकी सेज बिछाऊँरी ।।

यहाँ तक कहा जा सकता है कि सूरदासकी गोपी विरहकी सगुण उपासनाका रूप निर्गुण उपासनाके पथमें साधककी विरहिणी अवस्थासे मिलता-जुलता है।

स्पष्ट है कि सूर तुलसी आदि वैष्णव कवियोंने जिस रूपका प्रचार किया वह सरलग्राह्य रूप था। साधारण जनता अब भी उनके कथनमें उसी आदर्शको देखती है। निर्गुण उपासना सूक्ष्म होती है क्योंकि इसमें अमूर्तकी साधना अपेक्षित है। संसारमें रहकर आदर्श रूपका वर्णन करना चाहे कठिन न हो किन्तु अगम-अगोचर-ज्योतिवाला अलौकिक भाव सुनना अत्यंत कठिन है। अतः इस प्रकारकी उपासनाके साधक संसार त्यागका उपदेश देते थे। और इसी कारण निर्गुण साधक संसारको त्याग शान्ति के एकान्तमें अपनी सिद्धिके प्रयत्नमें संलग्न रहते थे। संसारके सम्पर्कसे असिप्त रहना उनका ध्येय था। संसारसे इतनी दूर रहनेके कारण और केवल मुमुक्षुओंके ही सम्पर्कमें आनेके कारण वे प्रारंभमें संसारमें मान्य न हुए और संसारके लिए अब भी वे प्रायः लुप्त-से ही हैं। बहुत-से पहुँचे सिद्ध हैं जिनके विषयमें कुछ ज्ञात ही नहीं। निर्गुण साधनावाले कवियोंने भी भक्तिकी उच्चकोटिकी कविता की है किन्तु संसारके संपर्कमें विशेष न आनेसे और काव्य रचनाका उद्देश्य न होनेसे वह प्रायः अप्रकट रही और अधिकांश अब भी है। जो संसारके संपर्कमें आये भी वे विशेष रूपसे उपदेशकके रूपमें कविके रूपमें नहीं। यथार्थमें संतोंके रूपमें ही उनका व्यक्तित्व है किन्तु अनुभूतिकी गंभीरता और प्रेमकी विशालताके कारण काव्यात्मक उद्देश्य न होनेपर भी उनकी वाणी-द्वारा काव्यका अजस्र सुधामधुर स्रोत बहा। कितने ही अन्य उस काव्य-स्रोतका मन्थन कर स्वयं भी पवित्र और उच्च कविता-स्रोतिनी प्रवाहित करनेका स्फूर्ति-लाभ कर सके। इन साधक कवियोंकी कविताएँ बहुत-सी प्रकाशमें आनेपर भी अधिकांश लुप्त हैं और अन्वेषणापेक्षिणी हैं।

सिद्धान्त एवं मूल तत्त्वकी दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गोंमें विरोधकी भावना नहीं। ये केवल दो पथ हैं। एक पथ नगर, उपवन वाटिका तड़ाग और रमणीय प्रासादोंके बीच होकर जाता है और दूसरा निर्जन वन बीहड़के मध्य भयावनी व ऊबड़-खाबड़ राहसे किन्तु लक्ष्य दोनोंका एक ही है तथा भजन और साधनाकी पवित्रता भी सम रूपसे ही अपेक्षित है। अपने सच्चे रूपमें दोनों ही मन और हृदयको पवित्र कर दोनों ही मार्ग असीम शक्ति असीम सौंदर्य तथा असीम ज्योतिका सान्निध्य एवं साक्षात्कार करानेवाले हैं। उनमेंसे दोनों धाराओंकी पुनः धाराएँ एवं उपधाराएँ हैं। सगुण साधकोंकी दो वैष्णव अथवा राम कृष्णकी

भक्ति-संबंधी अनेक पीयूष धाराएँ हैं। राम और कृष्ण भक्तिकी अमृतमयी धारा-ओंको बहानेवाले गंगोत्री व जमनोत्रीके समान ही तुलसी व सूर दो प्रकाण्ड स्रोत हैं।

निर्गुण धारा भी विशाल धारा है। नामदेव, कबीर, नानक, दादू, पलटू, पीपा आदि संतोंने अपनी वाणीसे इसे अजस्रता प्रदान की है। इन निर्गुणियोंकी वाणियोंमें पाया जानेवाला साहित्य साधना व आत्मानुभूतिसे पूर्ण है। अत इनमें हमें काव्यके मुख्य तत्त्व—सत्य व अनुभूति—दोनों ही मिलते हैं। इस साहित्यमें मिलनेवाला आनंद अलौकिक है। इसमें अलभ्य आनंदको प्रकाशित करनेका प्रयास है। इस साहित्यका निर्गुण पथ और उसके साधक कवि संसारके प्रकाशमें आ चुके हैं।

किंतु निर्गुणोपासक पंथका एक "निरंजन सम्प्रदाय" भी है जिसकी ओर स्व डॉ पीतांबरदत्त बडथ्वालजीने १९४० ई की "ओरिएंटल कान्फ्रेंस (तिरुपति)' के अधिवेशनमें हिंदी विभागके अध्यक्षपदसे भाषणके अवसरपर संकेत किया है। प्रस्तुत ग्रंथ उसी ' निरंजनी संप्रदाय ' और उसके प्रमुख एक संत कवि "तुरसीदास" की वानी और अन्य रचनाओंको प्रकाशमें लानेका एक प्रयास है। कबीर तथा अन्य निर्गुण संतोंकी वाणियाँ उनकी उपदेशात्मक भ्रमण-शीलताके कारण समाजमें प्रचार पा चुकी हैं और उनको हम रत्नोंकी भाँति अपने पास रखते हैं, किंतु निरंजनी संप्रदायके साधक-संतोंकी अमृतमयी वाणी अब भी महासमुद्रमें ही लुप्त है जिसको प्राप्त करनेके लिए समुद्र-मथनका-सा प्रयास ही अभिप्रेत है। तुरसीदास-की वाणी उनमेंसे एक है और इसी प्रकार इस संप्रदायके हरिदास और सेवादासकी वाणी भी। रचनाकी सुधा-मधुरतामें यदि कोई संदेह हो तो उसका दोष नहीं वरन् उसके आधार-स्वरूप पात्रका दोष हो सकता है। किंतु, वैज्ञानिक विकासके युगके पारखी, पात्रको न देखकर उसके अंतर्गत पदार्थको ही सत्यताके रूपमें देखते हैं। अत इन संतोंकी वाणियोंमें तत्त्वका अवलोकन अभिप्रेत है भाषाकी प्रांजलता नहीं।

भगीरथ मिश्र

निर्गुणोपासनाकी परंपरा और निरजन सप्रदाय

भारतीय भक्ति-पद्धति अति पुरातन है । भारतीय जीवन प्रारभसे ही उपासना-मय है । वैदिक कालके पूर्व भी द्रविड भारतकी प्रेममयी भक्ति थी जो कि आर्योंके आगमनसे प्रभावित हो सस्कृत हो गयी और वही उपनिषदोकी उपासना और भक्ति-साधनाके रूपमे परिवर्तित हुई । उपासना और भक्तिका सबध मानो भारतसे विशेष है । ईसाके २००० वर्ष पूर्व भी जब कि ससारके अधिकतर देशोमे जीवनके भरण-पोषणकी समस्या प्रधान थी, आर्य-जीवन परमात्म-भक्तिका अनुभव सूर्य, सध्या, ऊषा, पर्जन्य आदिके स्वरूपो और शक्तियोसे करता था । वसिष्ठ, कण्व, भारद्वाज आदि ऋषियोके बनाये इद्र, वरुण, मरुत्, अग्नि आदि देवताओके प्रशसात्मक गीत अलौकिक शक्तिकी अनुभूतिके द्योतक हैं । इस सात्विक अनुभव और आनदके भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनो कारण हैं । प्रथम तो यह कि भारतीय उर्वरा भूमिमे निष्प्रयास ही जीवनकी समस्याएँ हल हो जानेके कारण अपनी सरल प्रकृतिकी सौम्यतामे उन्हे सात्विकताका अनुभव होता था । उन्हे एक आनद मिलता था और वे उस आनदको देनेवालेके कृतज्ञ थे । दूसरे, वह मानव-जीवनका प्रारभ था । प्रत्येक वस्तु अपरिचित और कुतूहलकारी थी । अपरिचित वस्तु भयकारी अथवा सौदर्यमयी दो ही स्वरूपोमे प्राय प्रभाव डालती है । अतएव जीवनके उस प्रभातकालमे इन्ही दो भावनाओसे उद्भूत उपासना वैदिक ऋचाओके पाठ और यज्ञोके रूपमे चल पडी थी ।

भारतीय भक्ति और उपासनाकी अमरताका इससे बढकर प्रमाण नही हो सकता कि इतनी परिवर्तनकारी परिस्थितियोके तूफानोसे अनुताडित होकर भी वह अद्यापि जीवित है । उसमे सकीर्णता और कट्टरता आ जानेका कारण यह नही था कि इनकी भक्ति सकीर्ण या असत्य है, वरन् इसका कारण यह था कि उनसे अधिकाश उन आक्रमणकारियोका सपर्क हुआ जो कि उससे विपरीत जीवनका भौतिक पक्ष लेकर आये, और वे घबडाये होनेके कारण— अपनी तामसिकताके आवेशमे, अपनी पशुताके प्रमादमे— भारतीय भक्तिके सारल्य और नम्रताका अभिनदन न कर सके । अत उस सच्चाईके स्वरूपको छिपानेके लिए उन्हे उसे कट्टरताका रूप देना पडा । अतमे तो उस भक्तिका प्रवाह था जो विश्व-बधुत्वकी भावना जाग्रत करता था, और बाहरसे उसपर आक्रमण होनेके कारण उसे मचलते और तिलमिलाते हृदयसे भी अस्त्र-शस्त्रोका प्रयोग करना पडा था । यथार्थत परिस्थितिकी यही विषमता वर्णाश्रम-धर्म बननेका भी कारण है ।

बहुतेरी आक्रमक जातियाँ तो सहज ही में भारतीय जीवनमें विलीन हो गयी और उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण और पद्धतिको प्रभावित तक भी विशेष रूपसे न किया। शक सिथियन आदि जातियाँ इसी प्रकारकी थीं। किन्तु कुछ जातियोंने भारतीय जीवनपर इतना गंभीर प्रभाव डाला कि जिससे उसका रूप परिवर्तित हो गया। मुसलमानोंके आनेके पूर्व भारतीय भक्ति अधिकांश मंदिरोंमें यज्ञोंमे अपनी सफलता देख रही थी। यह व्यर्थ न थी क्योंकि उसने सारल्य सात्त्विकता और कल्पना दी। यदि हम एक पत्तेमें ही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करते है तो हमारे लिए यही विचार है। हाँ उसमें जो बाह्याडम्बर आ गया था वह व्यर्थ था। मुसलमानोंके प्रवेशके साथ इस भक्ति-पद्धतिको धक्का लगा। वे इस प्रकारकी उपासनाके विरोधी थे। उनका मूर्ति-विरोध किसी गंभीर दार्शनिक विवेचनसे उद्भूत नहीं था वरन् उनका धर्म लड़ाकुओंका धर्म था। उनका जीवन प्राय घुमक्कड़ोंका जीवन था। अत उनकी उपासना-पद्धति भी प्राय उसीके अनुरूप थी। मुसलमान भारतमे सहानुभूतिकी भावना लेकर नहीं आये थे। जितने भी उनके धर्मके बाहर थे सभी काफिर थे यह उनकी भावना थी। अत इस रूपमे आनेवाले मुसलमानोने एक प्रकारसे भारतीय जीवनके लिए एक विशाल समस्या उपस्थित कर दी। उनमें गुणग्राहकता थी किन्तु उस समय आनेवाले यवनोंमें गुणपर प्रसन्न होनेकी भावना न थी इसके विरुद्ध उनमें असहनशीलता था। अतः उनकी देशपर विजय इतनी न खली जितनी कि भारतीय भक्तिपर उनके द्वारा लायी हुई संक्रान्ति। यदि प्रारम्भमें अकबरके विचारोंवाला व्यक्ति भारतमें आता तो वह भारतीय जीवनपर अवश्य मुग्ध हो जाता।

किन्तु, भक्ति-पद्धति हो या सांसारिक जीवन परिवर्तन और संघर्षके बिना उसका रूप विकृत हो जाता है और उसमे संकीर्णता आने लगती है। मुसलमानोंके हिन्दू-धर्म विरोधी युगमे भी भारतीय भक्ति जीवित रही। जीवित ही नहीं वरन् अपने उज्ज्वल रूपमें निखर आयी। मुसलमानोंके कट्टर एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजाके विरोधने यहाँके विशाल हृदय साधु और भक्तोंके लिए आनन्दके साथ ही साथ हृदय मंदिरके द्वार खोल दिये और वे उसमें भाषीन भौतिक दूषणोंसे अप्रभावित परमज्योतिमय विभुकी उपासनामें तन्मय हुए। अपने विरोधियोंमें भी उन्होंने मानव-जीवनके गुण देखे और उन्होंने सबको अपनाना प्रारम्भ किया। नीच-उच्च और हिन्दू-मुसलमान सब तो परमात्माके प्यारे हैं। मंदिर ही केवल उपासनाका स्थान और साधन नहीं। रामानन्दने कहा "तुम मुझे मंदिरमें क्यों बुलाते हो? मैं उस सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामीसे अपने हृदय-मंदिरमें ही मिलता हूँ।" (यथ मा??र quoted in Midi val Mysticism) इस प्रकार संकीर्णता की ओर जाती हुई भक्तिमें उदार भावना आयी और हमें कबीर, दादू आदिके

रूपमे उदार सत, मुसलमानो और सूफियोंके सपर्कके परिणामस्वरूप प्राप्त होते हैं। सूफियोमे वे मुसलमान हैं जिनके हृदयमे भारतीय जीवनके प्रति उदार भावना विद्यमान् थी।

वौद्ध धर्म भी इसी प्रकारके एक मनोवैज्ञानिक तथा आन्तरिक जीवन-सघर्षका परिणाम था। वर्णाश्रम व्यवस्था वननेके पश्चात् भक्तिमे सकीर्णता आ गयी थी और कुछ उदार दृष्टिवाले शास्त्रीय पद्धतिके विरुद्ध मचल रहे थे। वैदिक कालके कर्मकाण्ड, यज्ञ तथा नियम समाजको जकड रहे थे। सहिता, ब्राह्मण, उपनिषदो तथा स्मृतियो-के आधारपर मनुष्य पूजापाठ, यज्ञ, जप, बलि तथा वर्णाश्रम धर्मों तथा नियमोके प्रतिपालनमे कट्टर एव कठोर हो गये थे। पूजा-पाठ, यज्ञ-जपमे भी प्रतिस्पर्धाकी भावना आ जानेसे जीवन वधनमय-सा होने लगा था और मस्तिष्क रूढियोकी गुलामी कवूल कर चुका था। ऐसी दशामे मनुष्यताके उदार व्यवहार तथा सपूर्ण प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमकी भावना विकास नही पाती। हम अपनेको पुण्यशाली वनानेके लिए यज्ञोमे प्राणियोकी आहुति देते हैं, तो हृदय आतरिक रूपसे विद्रोह करता है। इसमे हम पुण्य न करके पाप कमाते हैं। ऐसे देवी-देवता भी, जो हमारे प्राणियोकी हत्या करनेसे सतुष्ट होते हैं, हमारी श्रद्धाके पात्र नही रह सकते। इन सब कारणोसे ही वौद्धधर्म तत्कालीन वैदिक कर्मकाडी धर्मकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उठ खडा हुआ और उसने किसी भी देवतापर अपनी श्रद्धा न रखी। व्यापक मानवता ही वौद्ध धर्मका उपदेश व सदेश है।

इस प्रकारके उदार धर्मका प्रभाव जो सव प्राणियोपर दया करनेका उपदेश देता था, वर्णाश्रम धर्मके द्वारा ठुकराये और समाजके पीडित वर्ग तथा विदेशियोपर विशेष रूपसे पडा, किन्तु रूढि रूपमे उपस्थित ब्राह्मण धर्मको भेद न सका। यही वौद्ध धर्मकी धाराके विदेशोन्मुख होनेका एक कारण है। वौद्ध धर्म राजधर्म हो जानेपर भी भारतीय समाजके अतरमे घुसकर सहानुभूति और स्वागत न पा सका और भिक्षुओं तक ही केंद्रित रहा। समाजमे प्रभाव डालनेके लक्ष्यको लेकर यह तात्रिक क्रियाओंके रूपमे आया। किंतु यह विकसित होकर महायानकी शाखाके परिवर्तित रूप कई एकातिक पथोंके रूपमे ही चला गया और धीरे-धीरे ब्राह्मण धर्मके द्वारा पुन विरोध होनेपर उसकी कायापलट हो गयी।[1]

सिद्धो और नाथ-पथियोकी उपासनाकी क्रियाएँ भी इसीके परिणामस्वरूप है। वैष्णव और ब्राह्मण धर्ममे जिस भक्तिका विकास हुआ वह सगुण भक्ति है और इस प्रकारके साधकोंने जिस धर्मको अपनाया वह निर्गुण भक्ति ही थी जिसका

[१ हिंदी साहित्यकी भूमिका और मध्ययुगेर साधनाके आधारपर]

आधार उपनिषद् एवं योग है। इस निर्गुण भक्तिधाराके विकासमें सिद्धों और योगियोंकी एकांतिक साधना भी महत्त्वकी है। जहाँपर एक ओर मुसलमानोंके मूर्तिपूजाका विरोध और एकेश्वरवादने प्रभाव डाला वहाँ यह सिद्धोंकी परंपरागत साधना भी निर्गुण भक्तिके विकासमें सहायक हुई। और यह कहा जा सकता है कि यदि मुसलमान न भी आते तो भी निर्गुण भक्तिका प्रवाह चालू रहता उसका रूप चाहे जो कुछ होता। हाँ इस निर्गुण-भक्तिधारामें प्रेमकी सरसता लानेमें निस्सन्देह सूफियोंका बड़ा हाथ है। अतएव यह बात स्पष्ट है कि कबीरने जिस निर्गुण पंथका अवलंबन लिया और जिस उपासनाका उपदेश दिया वह दोनोंसे प्रभावित तो थी फिर भी किसी एकपर आश्रित नहीं थी। उन्होंने दोनोंके मूल रूपोंको लेकर भी अपना एक स्वतंत्र मत स्थिर किया। यही कबीरकी मौलिकता है।

कबीरदास आदि साधकोंने नाथपंथियों और सहजयानियोंके बहुत-से शब्द पद और दोहे ज्यों-के-त्यों स्वीकार कर लिये थे। इसमें यत्र-तत्र नाममात्रके परिवर्तन भी हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर आदिने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकोंसे ग्रहण की थी फिर भी कबीरकी साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियोंकी थी। कबीरने योगियों और सहजयानियोंके पारिभाषिक शब्दोंकी अपने ढंगपर व्याख्या की। इस प्रकार वैष्णव शास्त्रोंसे गृहीत होकर भी उनके राम दशरथ सुत नहीं थे ठीक उसी प्रकार उनका सहजशून्य षट्चक्र समाधि इड़ा पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियोंके इन्हीं शब्दोंसे भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं सूफियोंकी साधनासे गृहीत शब्दोंकी भी इन्होंने अपने ढंगपर व्याख्या की थी क्योंकि वे किसी शास्त्र विचार या संप्रदाय विशेषके संस्कारोंसे जकड़े हुए नहीं थे। जैसा कि दादूने कहा है

> निर्गुण ब्रह्मको कियो समाधु। तब ही चले कबीरा साधु।
> दुईकी राह लीन सब छोड़ी। हिंदू करमी तै पुनियारी।

[हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्यकी भूमिका]

संत कबीर अपने समयमें मौलिक और क्रांतिकारी थे। उन्होंने सब समाज प्रचलित कुरीतियोंका खण्डन कर तथा प्रचलित मतमतान्तरोंके सार ग्रहण करके दिव्य सत्यका मार्ग दिखाया था। वे साधनाका मार्ग बतलाते हुए भी सुधार विरोध और अपना पूर्ण व्यक्तित्व और फिर मानवतावादिताका उपदेश देते हैं। वे [illegible] भी अर्थविचारणाका अनुसरण करनेका नहीं भूलते। यही कारण है कि इस निर्गुण पथके महात्मा भी सब साधकोंके रूपमें स्वतंत्र रहे हैं और उनमें मर्यादा नहीं आ पाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारभसे लेकर अन्त तक भारतीय जीवनकी धारा यथार्थमे आध्यात्मिक ही रही। भारतीय जीवनका इतिहास भक्ति और अध्यात्मका इतिहास है। राजनीतिक उथल-पुथलके बीच भी भक्तिकी धारा प्रधान रूपसे अबाध बहती रही है। राजनीतिक उथल-पुथल और तूफानी आक्रमणोंने राजधानियोको ध्वस्त किया, राजपरिवारोंमे परिवर्तन हुए, किंतु, भारतीय जनता और जीवन राजपरिवारोंमे और राजधानियोमे सीमित नही। भारतीय समाज ग्राम्य है, और भारतीय जीवन राजनीतिक लहरोसे दूर बहता था। अत भारतीय जीवनकी धाराको राजनीतिक परिवर्तन विशेष प्रभावित नही कर सके। धर्म और भक्तिका प्रवाह उसी जीवनमे अबाध रूपमे बहता रहा। अतएव भारतीय इतिहास यथार्थत. इसी जीवनका इतिहास है और वह जीवन आध्यात्मिकता और भक्तिसे पूर्ण प्रभावित है। एक भारतीय, जीवनके उसपारकी बाते प्रधान रूपसे सोचता रहा है। उसका जीवन धर्म-भीरुताका जीवन रहा है और इसी कारण "एक भारतीय जन्म ही दार्शनिक होता है (An Indian is a born philosophor)" की कहनूत प्रचलित हुई। एक भारतीय अपने परम्परागत सस्कारोंसे ही आध्यात्मिक होता था और इसीसे यहाँ रहस्यवादके रूपमे साधनाका पूर्ण विकास भी हुआ, जो विश्वविदित है।[१]

अत मध्ययुगमे भारतीय भक्ति और उपासनाकी धारा ही भारतीय जीवनकी धारा रही है। निर्गुण भक्तिके रूपमे वह सब भारतीय हृदयोंमे अज्ञात रूपसे वर्तमान है[२] और वह सगुण उपासनाके रूपमे प्रकाश पाती रही है, अत निर्गुण उपासनाको केवल विदेशीय ढग कहना भारतीय हृदयकी विशेषतामे सदेह करता है। हाँ, यह इतनी विदेशीय और एकातिक हो सकती है जितने विदेशी और एकातिक बौद्ध धर्मके नियम और अहिसा हैं। कबीरने इसी आतरिक प्रवाहका दिग्दर्शन कराया और निर्गुण भक्तिकी धारा समाजके सम्मुख आयी किंतु इसके साथ ही साथ निरजन पथका प्रवाह भी चल रहा था।

---

१ "There are no peoples who have been more powerfully and continuously affected by the thought of a *spiritual* world than have been the peoples of India, and it is accordingly to be expected that among them the mystical temper of mind should be found

[Encyclopaedia of Religion & Ethics P 114]

२ "निर्गुण शाखा वास्तवमे योगका ही परिवर्तित रूप है। भक्तिधाराका जल पहल योगके ही फाटपर वहा है।"

(हिंदी कवितामे योगप्रवाह डॉ वडथ्वालजी द्वारा लिखित)

निरञ्जन पंथ

निरञ्जन पंथ कबीरके निर्गुण पंथसे प्राचीन है। यह सहजयान नाथपंथ और सिद्धोंके योगीपंथके साथ-साथ ही प्रादुर्भूत जान पड़ता है। कुछ पौराणिक और औपनिषदिक बातोंका समावेश होकर भी इसमें एकान्तिक योग और ध्यानके उपदेश हैं। योगके आठ अंग नवधा भक्ति ज्ञान वैराग्य गुरु शिष्यका महत्व जप जरना सूक्ष्म मार्ग तीन गुण माया जीव ईश्वर, साधु-असाधु, जीवन्मुक्त आदि सभी विषयोंकी चर्चा इसमें रहती थी और इसका प्रचार उड़ीसा उत्तर पूर्व भारत राजपूताना तथा पंजाबमें रहा है और उड़ीसामें अब भी है। जैसा कि प्रो क्षिति मोहन सेनने अपनी Midieval Mysticism of India में लिखा है —

" The Niranjan sect as well as the religious movements of North Eastern India had considerable influence on all schools of religious reformers of the Indian Midland The Niranjan sect still maintains its influence in Orissa,and its religious teachings travelled thence to the Midland and the Eastern part of India where it has not lost its force even at the present times. From sayings of Kabir and other saints we can infer that the teachings of the Niranjan sect were once very popular in Rajputana and the North Western Panjab Teachings of the Nath, Yogi and Niranjan sects are still not dead in the North Western India, Jodhpur Cutch, Sindh and neighbouring places. (P 69)

— Medieval Mysticism of India.

The Nath and the Niranjan cults were prevalent in Bengal and Orissa long before Kabir influenced. (P 120 M. M of India).

Kabir s sayings betray deep influence from the sects of Gorakhnath, Nath Panth and **Niranjan Panth,** Vaishnavism and Brahman Doctrines " (M. M of India by K. M. Sen)

अतः यह प्रकट है कि कबीर आदिकी बानीमें भी निरञ्जन पंथकी शिक्षाओंका प्रभाव है जैसा कि योग और नाथ पंथका है और कबीरके प्रादुर्भावके बहुत पूर्व ही नाथ और निरञ्जन पंथ बंगाल उड़ीसा आदिमें विकास पा चुके थे। नवीं-दसवीं शताब्दीके सिद्धोंके उपदेशोंमें भी हमें निरंजन उपासनाकी शिक्षा मिलती है। कण्हपा लिखते हैं —

लोअह गव्व समुव्वहइ हौं परमत्थे पवीण
कोडिह मज्झे एक जन होइ निरंजन लीन।

इस प्रकार "निरजन पथ" का वर्णन धार्मिक सप्रदायके रूपमे मिलता है, किंतु इस पथके सतोकी हिंदीमे रचना भी प्रचुर मात्रामे हुई है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम श्री डॉ वडथ्वालने ओरिएटल कॉफ्रेंसके अवसरपर दिये गये भाषणमे किया है। इन निरजनी उपासकोका वर्णन राघोदासके द्वारा लिखित भक्तमालमे भी है जिसका विवरण आगे दिया जाएगा।

निरजनकी उपासना और निरजनका स्वरूप कवीर पथियोमे दूसरा ही हो गया। उनका निरजन ब्रह्म उस परमात्म निरजनसे निम्न श्रेणीका है। यद्यपि कवीरकी रचनाओमे हम निरजनका वर्णन ज्योति रूपमे भी पाते हैं —

जोत निरञ्जन नाम धराई, सरगुन धूल पसारा है।

किंतु कवीरपथियो द्वारा वर्णित प्रचलित सृष्टि उत्पत्तिके विवरणमे निरजन समर्थ आत्मासे निम्न श्रेणीके माने गये हैं। उत्पत्तिकी कथा सक्षेपमे यो प्रचलित है। सर्व प्रथम समर्थ आत्माकी सत्ता थी। उसकी सृष्टिकी इच्छाके परिणाम-स्वरूप पाँच ब्रह्मा उत्पन्न हुए, किंतु वे सृष्टिकी उत्पत्तिका कार्य सपादन न कर सके। अक्षर नामक ब्रह्माने एक वार निद्रासे उठकर देखा तो एक अडा तैरता मिला। अडा फूटनेपर उससे "निरजन" का प्रादुर्भाव हुआ। वह निरजन भी सृष्टि रचनेमे जव समर्थ न हुआ तव समर्थ आत्माने एक स्त्रीकी सृष्टि की जिससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन पुत्र हुए। तत्पश्चात् निरजन अतर्धान हो गये। यह स्त्री माया थी जो अतमे अपने पुत्र ब्रह्मापर ही आसक्त हो गयी और सृष्टिका क्रम चला। किंतु यह सृष्टि-उत्पत्ति-सवधी कथा पौराणिक रूप लिये हुए है। इससे यह प्रकट होता है कि कवीर-पथियोके विचारमे निरजन पूर्णब्रह्म नही, वरन् उसका एक अश मात्र ही है। कवीरके नामसे प्राप्त एक दोहा भी (यदि यह कवीरको ही है) यही प्रकट करता है —

अछय पुरुष एक पेड है, निरजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये पात भया ससार॥

किंतु "निरजन पथ" मे निरजन पूर्णब्रह्म और समर्थ आत्माके लिए ही आया है और निरजनी सत निरजनको सर्वोपरि समझकर अन्य देवताओको उससे नीचे समझते हैं और उनकी उपासना करनेकी कोई आवश्यकता नही मानते हैं। निरजनका प्रभाव कवीरकी शिक्षाओपर अवश्य है, किंतु कवीरके पश्चात् निरजन पथपर कवीरके सिद्धातोका प्रभाव विशेष रूपमे पडा और उसकी उपासना-पद्धति, प्राय निर्गुण पथकी भाँति हो गयी। यद्यपि विश्वास-पद्धतिमे अतर अवश्य रहा है जैसा कि डॉ वडथ्वालने अपनी हिंदी काव्यकी निर्गुण धाराकी भूमिका (The Niraguna School of Hindi Poetry) मे कहा है —

"The Niranjanis look complacently to the honour done to the whole Hindu Pantheon, though they consider the different deities and Avatars as comparatively minor manifestations of the Niranjana Brahma, and profess to have risen above the necessity of worshipping them and do not wish to stand in antogonism to the traditional social discipline"

[निरंजनी संपूर्ण हिंदू देव समाजके प्रति संतोष और सहानुभूतिकी दृष्टिसे देखते हैं यद्यपि वे विभिन्न उपास्य देवों और अवतारोंको निरंजन ब्रह्मकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका समझते और उनकी पूजा करनेकी आवश्यकतासे अपनेको ऊँचा हुआ प्रदर्शित करते हैं और परंपरासे आयी हुई सामाजिक मर्यादाके विरुद्ध खड़े होना नहीं चाहते ।]

निर्गुनियोंकी भाँति निरंजनी भी राम नामकी उपासनाका उपदेश देते हैं और ये राम कबीरके ही निर्गुन राम हैं। रामको निर्गुण ब्रह्मके रूपमें मानते हुए भी तुरसीदास ब्रह्मा विष्णु महेशको भी देवताके रूपमें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं—

तुरसीदास कहते हैं—

संतो सो है राम हमारा रे ।
नाद बिंदरहित बिंद बिंदरहित नहीं तस वार न पारा रे ।
सकल बियाप्या सब तै न्यारा सबका सिरजनहारा रे ।
सब गुन पवन सब भव भंजन त्रैगुन निरकारा रे ।
सब सुख सागर सब सुख दाता सकल सरोमनि सारा रे ।
सब गुनरहित अकुल अविनाशी सकल विरच नहिं बारा रे ।
ब्रह्मा विष्णु महादेव नारद सबही करहिं बिचारा रे ।
पार न पावै अगम अहोनैं गावै बेद पुकारा रे ।
आवै न जाय मरै नहिं जनमें अवगति अलख अपारा रे ।
जन तुरसी ऐसा राम हमारा ताहि सुमरि पावै पारा रे ॥

पुन: कबीर व निर्गुणी संतोंकी शब्दावलीके अजपाजाप उलटा पथ गगनमंडल और अनहद नाद आदि जिस प्रकार बौद्धों और योगियोंके साधना-संबंधी रूढ़ शब्दोंसे भिन्न हो गये वे उसी प्रकार कहीं-कहीं हम निरंजनी सम्प्रदायमें भी इन्हीं अर्थोंके द्योतक शब्दोंको वैष्णव भक्तोंकी सगुण शब्दावलीमें प्रकाशित पाते हैं। जैसे कि तुरसी एक साखीमें कहते हैं—

सिव नगरीमें आसन धारै पलटि अपन विचारै रे ।
त्रिवेणी तटि न्हावै तासौं परमज्योति निहारै रे ॥

इसमे शिवनगरी शून्यमडल है, उलटा अगम सुरतिसे लेकर लौ तकका उलटा मार्ग है और त्रिवेणी इडा पिंगला और सुषुम्ना नाडी है और परमज्योतिके दर्शन करना ध्येय है। कबीरकी निर्गुण शब्दावलीको 'तुरसीदास' ने शिव और त्रिवेणीके द्वारा सगुण शब्दावलीमे घटित किया है। यद्यपि तात्पर्य वही है फिर भी तुरसीकी इस शब्दावलीमे गहरी परम्परा है। इसका यह अर्थ नही कि तुरसी अथवा अन्य निरजनी सगुण रूपको मानते थे, किंतु ये परपरासे आये विश्वासके कट्टर विरोधी नही थे। इन्होंने सगुण और निर्गुण शब्दावली दोनोका प्रयोग किया है।

ज्ञान और भक्ति दोनोका सम्मिश्रण निर्गुण व निरजन धाराओंके अतर्गत है। निरजनी, ससारकी वस्तुओको माया कहकर एक परमात्मासे लगन लगानेका उपदेश देते हैं। अत अधिकाश बातोमे इनको निर्गुण विचारोका ही अवलब है। मायाके दो स्वरूप—कनक और कामिनी—अचूक रूपसे अपना प्रभाव डालते हैं, चचल मन उसका सहायक हो जाता है, अत तुरसी उनकी निंदामे कहते है—

जैसी ही माया चपल तैसो चचल मन।
तुरसी उभै रिपुन बिच क्यों निरवहई जन॥

कबीर भी मायाके दोनो स्वरूपोकी दुर्गम घाटी बतलाते हुए कहते है—

चलो चलो सब कोई कहै पहुंचे बिरला कोय।
एक कनक एक कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥

निरजन पथ रहस्यवादी प्रवृत्तिमे भी निर्गुणियोमे समानता रखता है। उनकी साधक आत्माएँ परमात्माके विरहका तीव्र अनुभव करती है। ये सब बाते कबीरकी शिक्षाके अनुसार हैं जिनको निरजनी तुरसी अपना अलक्ष्य रूपसे गुरु मानते हैं और उनके उपदेशोपर चलना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। जैसा कि तुरसी कहते हैं—

कर सू करगहि कृपा करि, दिखलायो निज ठांव।
कृपासिंधु 'कबीर' की तुरसी मैं बलि जांव॥

अत 'निरजन' की अभिव्यजना कबीरपथी चाहे कुछ करे, चाहे उसे "मृत्युका देवता" बनावे और चाहे 'अक्षय' पेडकी डाल, किंतु कबीर तथा अन्य निर्गुण सतोने निरजनको पूर्णब्रह्म मानकर ही उपास्य देवके रूपमे चर्चा की है। निर्गुणी "दादू" स्वय कहते हैं—

सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सब ही मांहि।
वहां निरजन रमि रहा, कोउ गण व्यापै नांहि॥

दादूपंथी राघवदास ने अपने भक्तमालमें जिसमें कि नाभादासके भक्तमालसे अवशिष्ट भक्तोंकी चर्चा है निरंजनियोंका अलग वर्णन किया है। उसमें बारह निरंजनियोंका उल्लेख है जो कि कबीरके भावको बनाये रखनेमें प्रयत्नशील थे —

सब राखहि भाव कबीर को इम एते महंत निरंजनी।

यों तो निरंजन धारा कबीरके पूर्व वर्तमान थी जिसकी बातोंका समावेश कबीरकी निर्गुण धारामें भी हुआ है फिर भी कुछ निर्गुन धाराकी नवीन बातोंका समावेश निरंजनियोंने करके प्राचीन धाराको अनुप्राणित किया है। दोनोंमें प्रमुख भेद इसीसे है कि निरंजनपंथ वैष्णव भक्तिकी परंपरासे भी सहानुभूति और उदार हृदयसे मिलता है। उसके अंतर्गत समाजके वर्णाश्रम धर्मकी एकदम निंदा नहीं है। वर्णाश्रम धर्म कर्मके आधारपर है और जो संन्यासी या योगी हैं वे न किसी वर्णके और किसी धर्मके और सभी वर्णवाले इसमें आ सकते हैं ऐसा तुरसीका विचार है —

करमहि ब्राह्मण करमहिं छत्रिय करमहिं बैस सूद्र म्लिच्छ।
तुरसी ये कर्मनि नीच निहकर्मनि नीच न पोच ॥

जो व्यक्ति शुभकर्मी है उसको नीच नहीं कहना चाहिए उसका जन्म चाहे जिस वर्णमें अथवा अवस्थामें हुआ हो। जो नीच कर्म करे यथार्थमें नीच वही है अन्य नहीं। यहाँ तक कि जन्मजात विप्र भी जो कि केवल वेष बना लेते हैं किन्तु उनके कर्म विप्रतुल्य नहीं पतित हैं। तुरसीके अनुसार —

माला मुद्रा तिलक सब सोहत जनके पास।
कनक न कबहूँ कर गहै कामिनि संग न सुहास ॥

इस प्रकार यदि विचारकी शुद्धता और भावकी सत्यता पास है तो प्रत्येक वेष व प्रत्येक स्थान उपयुक्त है और त्यागनेके योग्य कुछ भी नहीं है। सिद्धिकी ओर अग्रसर साधकके लिए ऊँच-नीच ब्राह्मण-क्षत्रिय माला-तिलक आदिके कारण कोई भेद नहीं रह जाता है। समाजमें भी जब इस प्रकारकी संस्थाओंका प्रचार होता है तब वे विशुद्ध सत्य और कल्याणके उद्देश्यपर आश्रित होती हैं किन्तु मानव-समाजकी स्खलनशीला प्रवृत्ति उन नियमोंको धीरे-धीरे दूषित करती रहती है। अत सम्भव निष्कर्ष यह है कि एकका खण्डन कर जिसका भी प्रचार किया जाएगा अन्धविश्वास व अज्ञान उसमें भी अन्य प्रकारकी बुराइयोंको ला देगा। इस कारणसे सबसे उपयुक्त वस्तु सत्यकी पहचान और शुद्ध व्यवहार है। तुरसी तथा अन्य निरंजनी अपने उपदेशोंमें कबीरकी भाँति उग्र नहीं हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया है किन्तु पूजा और पुजारीके वेषका मूल रूपमें खण्डन नहीं किया। हाँ इतना अवश्य है कि ये सब वस्तुएँ साधककी प्रारम्भिक अवस्थासे ही मेल खाती हैं और पहुँची अवस्थासे नहीं —

कन्या क्वारी गुडियन सग, तावत खेलै करि करि रग।
तुरसी जावत् पतिहि न पावै, पति पावै तब तिनहि वहावै॥

इस हेतु जो मूर्तिमे ही परमात्माका दर्शन कर सकता है वह भी सत्य पथपर ही है। जिस प्रकार अन्य स्थानोपर परमात्माका दर्शन किया जा सकता है उसी प्रकार एक मूर्तिमे भी। अत तुरसी उदार हृदयसे उपदेश देते हैं —

मूर्ति में अमूरति वसै, अमल आत्मा राम।
तुरसी भरम विसारि कै, ताहीको लै नाम॥

जहाँपर निरजनी मूर्तिपूजाको कृत्रिम मूर्ति न मानकर निराकार गोविंदके भजनका उपदेश देते हैं वहाँ भी वे कट्टरतामे नही वरन् सहानुभूतिके साथ ही कहते हैं। 'हरिदास' जी की साखी है —

नहि देवल सो वैरता, नहि देवल स्यूं प्रीति।
किरतिम तजि गोविंद भजो, यह साधोंकी रीति।

अत निरजनियोमे जो विशेष वात है वह धार्मिक सहिष्णुता है, उनमें आवेशमय क्रोध नही है। इसका कारण यह है कि उनमे भक्ति और विनम्रताकी मात्रा विशेष है।

कवीर वेद, पुराण आदिका खण्डन करते हैं, किन्तु तुरसी उनके अध्ययनका सार अपने उपदेशमे अन्तर्निहित करते हैं —

अनत सास्त्र अनत बानी, अनत कथा रिष मुनिन वखानी।
तुरसी यामै सवको सार, हम नीकै कीयों निरधार॥

वे भागवत व वैष्णव धर्मको भी सहानुभूतिकी दृष्टिसे देखते हैं किन्तु निर्गुणी उनका खण्डन करते हैं। अत निरजन पथ मध्यका पथ है। या यो कहे कि इसमे कट्टरता नही, वरन् उदार धर्म है। इसमे साधु-सुलभ सरलता एव सहानुभूति है। इसमे विचार और साधना प्रधान है आलोचना और आक्षेप नही।

"कवीरने स्थूल पूजा-विधानोका तथा हिंदुओकी सामाजिक वर्ण व्यवस्थाका एकदम खण्डन किया है। निरजनियोंने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्म काण्डका परमार्थ दृष्टिसे विरोध किया है अवश्य, किन्तु अपने समान ज्ञानकी उच्च अवस्था तक न पहुँच सकनेवाले साधारण श्रेणीके व्यक्तियोके लिए इन वातोकी आवश्यकता भी उन्होंने समझी है। इसीलिए हरिदासने अपने चैलोको मदिरसे वैर अथवा प्रीति रखे विना ही गोविंदकी भक्ति करनेका आदेश दिया। तुरसी मूर्तमें अमूर्तकी ओर जानेके लिए अमूरतिको मूरतिमे देखना बुरा नही समझते और आचारका भी आखिर कुछ महत्त्व समझते हैं। यद्यपि निरजनी वर्णाश्रम धर्मको यदि तुरसीके शब्दोमे कहें तो शरीरका ही धर्म मानते हैं, आत्माका नहीं, फिर

भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता है कि परम्परासे चली आती हुई वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्थासे उन्हें बैर है। यद्यपि वे यह अवश्य चाहते हैं कि संसार एक परिवारकी भाँति रहे और वर्णभेद ऊँच-नीचके भेदभावका [1]आधार न बनाया जाए।

निरंजनी इस प्रकारकी प्रवृत्तिके कारण रामानंद नामदेव इत्यादि प्राचीन संतोंके समकक्ष हो जाते हैं। बिठोबाकी मूर्तिके सम्मुख घुटने टेककर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्माके भजन गाया करते थे और, कहा जाता है कि रामानंदने तीर्थों तथा मूर्तियोंको जल-पाषाण मात्र बतलाते हुए भी शालग्रामकी पूजाका विधान किया था। सम्भवतः यही प्रवृत्ति अन्तमें भगवानदास निरंजनी कृत कार्तिक *माहात्म्य और जैमिनि-अश्वमेध-सदृश पौराणिक इनके ग्रंथोंमें प्रतिफलित हुई।*

—(डॉ॰ बड़थ्वालजीके भाषणसे)[2]

निरंजन पंथमें प्रेम और योग सम्भवतः रामानंदके ही प्रभावसे आये जैसा कि डॉ॰ बड़थ्वालजीका भी मत है। "ये प्रेम तथा योग तत्त्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानंदके प्रायः सब शिष्योंकी बानियोंमें पाये जाते हैं इसलिए इनका मूल स्रोत गुरुमें ही ढूँढना चाहिए।" रामानंदके बारह शिष्योंमें दसधा-भक्तिका प्रचार था। तुलसी ने भी अपनी साखियोंमें नवधा भक्तिके अतिरिक्त दसवीं भक्ति 'प्रेमाभक्ति' का वर्णन किया है। उनके द्वारा वर्णित नवों भक्तियाँ निराकार परमात्माकी उपासनाके अनुकूल हैं और इन सबमें साकारकी सेवा इत्यादि नहीं वरन् हृदय कमलके अंतर्गत ब्रह्मज्योतिमें ध्यान लगानेकी चर्चा है। प्रेमाभक्तिको सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए तुलसी कहते हैं —

तुलसी मन विसन फिरि जाए। जिमि पक तरवर पात नसाए।
अतिमति तन मन शुचि पिरमया। प्रेम भक्ति सूँ पावन भया॥

तुलसीदासने भक्तिके दो स्वरूपों—सगुण और निर्गुण—का निरूपण करके स्वयं निर्गुण स्वरूप ग्रहण किया है। डॉ॰ बड़थ्वालजीने इसका भी प्रसंग अपने व्याख्यानमें लिया है —

---

१ जनम ब्राह्मण भयका भयो करत कुल अंगार।
अनुरि पिउ पर लेखणा गुरु मधु अवतार॥
हिन्दू तुरक एक सम भाई।
राम रहीम दोउ नहिं भाई॥

२ यह भाषण नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके सं॰ १९९७ वैशाख अंकमें प्रकाशित हुआ था। देखिए उक्त पत्रिका पृ॰ ७१–८८।

"तुरसीदासने सगुणी नवधा भक्तिको अद्वैत दृष्टिके अनुकूल एक नवीन अर्थ दे दिया है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो निर्गुण पक्षमे सरलतासे ग्रहण किये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त तुरसीके अनुसार पाद-सेवन,[1] हृदय कमल स्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना है। अर्चन[2] समस्त ब्रह्माडमे ॐ का प्रतिरूप देखना है। वंदन[3] साधु गुरु और गोविंद दोनोको एक समझकर उनकी वदना करना है। दास्यभक्ति[4] हरि, गुरु और साधुकी निष्काम सेवा करना है। सख्य[5] भक्ति भगवानसे बराबरीका अभिमान न होकर सब मार्गोमे गोविंदकी प्राप्ति हो सकनेके विश्वासके साथ भगवानको मित्र समझनेकी भावना है और आत्म[6]-निवेदन दैन्यका भाव है। तुरसीका कथन है कि यह नौ प्रकारकी भक्ति सगुण नवधा भक्तिसे भिन्न है, और जीवको प्रवृत्ति मार्गकी ओर न ले जाकर निवृत्ति मार्गकी ओर ले जाती है।[7] इस नवधा भक्तिकी ससिद्धि होने पर उसके उपरान्त सर्वश्रेष्ठ 'प्रेमाभक्ति'[8] की प्राप्ति होती है और इस प्रकार नाभादासजीकी दशधा सज्ञाकी सार्थकता प्रकट होती है।"

(डॉ वडथ्वालके व्याख्यानसे ना प्र पत्रिका वैसाख १९९६ पृ ७१–८८)

निर्गुण धाराकी उपधारा निरजन धारा भी कम महत्त्वकी नही है। निर्गुण धारा अपना प्रवाह विस्तृत करती है एक विशाल सतवाङमयको प्रवाहित करती है।

---

१ तुरसी तेज पुजके चरन वे, हाड चामके नाहि।
वेद पुराननि वरनिए, रिदा कँवलके माँहि।

२ तुरसीदास तिहुँलोक मैं, प्रितम (प्रतिमा) ॐकार।
वाचक निर्गुन ब्रह्मको, वेदनि वरन्यो सार॥

३ गुरु गोविंद मतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मगल सूं वन्दन करै, तौ पाप न रहई जाय॥

४ तुरसी वनै न दासकूं आलस एक लगार।
हरि गुरु साधू सेवमैं, लगा रहै एक तार॥

५ वराबरीको भाव न जानै, गुन अवगुन-ताको कछू न आनै।
अपनौ मित जानिबौ-राम, ताहि समरपौ अपनो धाम॥

६ तुरसी तन मन आतमा, करहु समरपन राम।
जाकी तारि दे शीत होइ, छाडिए सकल सकाम॥

७ एक नौधा निरवरति तन, एक परवरति तन जान।
तामैं अतिकन रूपनी, ताका करहि वपान।

८ तुरसी यह साधन भगति तर लौं सीची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया, प्रेम मुक्ति फल जोय॥

निरंजन धाराके बारह निरंजनी महंतोंका वर्णन राघवदास दादूपंथीने वि॰ सं॰ १७७० (= १७१३ ई॰) में समाप्त नाभादासके भक्तमालके आधार पर रचित अपने "भक्तमाल" में किया है। इसमें नाभादासके भक्तमालसे अतिरिक्त भक्तोंका वर्णन है। इसमें हरिदास तुरसीदास षेमजी कान्हड़दास मोहनदास जगन्नाथदास स्यामदास ध्यानदास नाथ पूरण मानदास और जगजीवनदास इन बारह निरंजनियोंका विवरण मिलता है। राघवदासके निम्न दो छप्पयोंमें उनके नाम व कुछ विवरण प्राप्त होता है—

अब राघौ कहि नाव कबीरकी इम ऐसे महंत निरंजनी।
लपट्यो तु जगनाथ स्याम कान्हड़ अनुरागी।
ध्यानदास अरु षेम नाथ जगजीवन त्यागी।
तुरसी पायो तत्व मान तो भयो उदासा।
पूरण मोहनदास धाम हरिदास निरासा।
राघो तप्रन राम भजि माया गंजन भंजनी॥ अब राघौ—१४३

दूसरा छंद निम्नलिखित है—

लपट्यो जगन्नाथदास स्यामदास कान्हड़ दास
भये भजनीक अति निस्पृह मांगि पाई है।
पूरन प्रसिध भयो हरिदास हरिरत
तुरसीदास पायो तत्त नीकी बनि आई है।
ध्यान दास नाथ अरु आनदास राम कह्यो,
षेमसो उदास ज्यों लै स्वासो स्वास आई है।
जगजीवन पेमराम मोहन पूरवै प्रकास
गुगुन निराश वृत्ति राखी मन भाई है ॥ १४४

(राघवदास कृत भक्तमाल)

ये सब निरंजनी संत राजस्थानी हैं। इनके अतिरिक्त मनोहरदास निपट निरंजन तथा भगवानदास तीन निरंजनियोंका उल्लेख शिवसिंह सरोज, डॉ. ग्रियर्सन-के मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर, नागरी प्रचारिणीकी खोज रिपोर्टों तथा मिश्रबन्धु विनोद में मिलता है। इन सब निरंजनियोंमें समयके विचारसे सबसे पहले हरिदास आते हैं। राघवदासके भक्तमाल में हरिदास[1] को प्रयागदासके शिष्य होनेका उल्लेख है। इसके पश्चात् वे गोरखपंथी हो गये। सुन्दरदासने

---

१ प्रो॰ श्री क्षितिमोहन सेनने अपनी मिडीवल मिस्टीसिज्म ऑफ इंडिया (मध्ययुगेर साधना) के पृष्ठ ११२ में हरिदास निरंजनीको दादूके प्रमुख ५२ शिष्योंकी सूचीमें दिया है। किन्तु दादूके शिष्य हरिदास दूसरे हैं और निरंजनी हरिदास दूसरे हैं।

हरिदासकी गणना गोरखनाथ, कथडनाथ और कबीर आदिकी भांति बडे गुरुओमे की है। श्री जगद्धर शर्मा गुलेरीके मतानुसार तथा सुदरदासके कथनमे हरिदासको जो अपने पथमे हरिपुरुष भी कहलाते थे, ग्रथ-रचनाका समय १५२०-१५४० ई के बीचमे है। श्री गुलेरीने इनके ग्रथोंके नाम यो दिये है —

(१) अष्टपदी जोग ग्रथ, (२) ब्रह्मस्तुति ग्रथ, (३) हरिदास ग्रथमाला, (४) हस प्रबोध ग्रथ, (५) निरपख मूलग्रथ, (६) राजगुड, (७) पूजा जोग ग्रथ, (८) समाधि जोग ग्रथ, (९) सग्राम जोग ग्रथ। हरिदासजीकी रचना श्री हरिपुरुषजीकी वाणी नामसे जोधपुरके वैष्णव-साधु देवादास द्वारा स १९८८ मे प्रकाशित हो चुकी है। यह ४०८ पृष्ठोका ग्रथ है जिसमे ४७ छोटी-छोटी रचनाएँ, भिन्न-भिन्न रागरागिनीयोंके रूपमे पदोका सग्रह, कवित्त, सवैया, छप्पय छद और उनके बाद साखियाँ है। एक अन्य हस्तलिखित प्रतिके अनुसार स्वामी हरिदासकी रचनाओंका विवरण इस प्रकार है—

जोगग्रथ– ४७, पद– २०८, कुडलिया– ११?
चद्राइण– ६४, साखी– ३१४, सिलोक ४।

दादू महाविद्यालयके आचार्य स्वामी मगलदासके अनुसार राजस्थानके नागोर जिलेकी डीडवाना तहसीलका कापडोद नामक गाँव स्वामी हरिदासका जन्म-स्थान था। ये साँखले राजपूत थे। इनका नाम पहले हरिसिंह था। एक बार अकालके कारण परिवारकी शोचनीय दशा हो जानेसे इन्होने डाका डालना प्रारभ किया परन्तु ४५ वर्षकी अवस्थामे किसी साधु (गोरखपथी) के सत्सगसे इन्हें अपने कर्मोसे विरक्ति हुई और ये सत बन गये। काफी समय तक डीडवानेके पासकी डीगरीमे तपस्या और साधना की। उसके पश्चात् इन्होने विभिन्न स्थानोका भ्रमण किया।

हरिदासजीने अपनी रचनाओमे कबीर और रैदासका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय इनके बादका है।

इनके साखी व पद डॉ बडथ्वालजीके सग्रहमे भी हैं। राघवदासने इनके विषयमे कहा है कि हरिदास निराश व इच्छाहीन तथा निरतर परमात्मामे लीन रहनेवाले थे। उन्होने तन, मन, वचनसे परमात्माको प्रसन्न कर लिया था किंतु वे क्रोधी अवश्य थे जैसा कि राघवदासने इन्हे "हर ज्यू कहर" कहकर व्यक्त किया है। ये गोरखनाथ व कबीरकी बानियोसे विशेष प्रभावित हुए। इनकी रचना प्रभावशील होती थी और इन्होने सिद्धो और जैनोकी कडी आलोचना की है। ये परमात्माको नाथ व निरजन दोनो नामोसे भजते थे।

मोहनदास कान्हड़ और खेमजी भी अच्छे कवि थे और अध्यात्म मार्गके सफल पंथी थे। मोहनदास देवपुराके निवासी थे, कान्हड़ चाटसूके और खेमदास शिवहड़ीमें रहनेवाले थे। राघवदासने कान्हड़दासको अंशावतार माना है और इन्हें इंद्रियोंपर विजयी कहा है। ये अति भजनीक थे और भिक्षासे प्राप्त भोजनपर ही निर्वाह करते थे। इन्होंने अपने भजन व सत्संगसे बहुतोंका निर्वाह किया है।

मोहनदास कान्हड़ और खेमजी ये तीनों राघवदास (१७७ वि) से पहले हुए हैं। मोहनदासकी वाणी साखी और पदोंके रूपमें है। खेमदास हरिदासके शिष्य थे। इनके द्वारा रचित चिंतामणि वैराग्यमरमी ग्रंथ तथा कुछ पद हैं।

दूसरे सेवादास निरंजनीकी भी विस्तृत रचना है। इनकी भी रचनाका एक संग्रह डॉ. बड़थ्वालजीके पास था जिसमें ३५६१ साखियाँ ४ २ पद १९९ कुंडलियाँ १ छोटे ग्रंथ ४४ रेखता २ कवित्त और चार सवैया हैं। सेवादास हरिदास निरंजनीकी परंपरामें छठी पीढ़ीमें हुए और ये अमरदासके शिष्य थे। इनकी जीवनी पद्यमें सेवादासपरची नामसे मिलती है जिसे कि उनके शिष्य अमरदासके शिष्य रूपदासने संवत् १८३२ (१७६५) में वैसाख कृष्णको लिखी थी। इसके अनुसार इनकी मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस सं १७९२ वि में हुई थी। इन्होंने कबीरको अपना सतगुरु माना है।

बाबा अर्जुनदासके शिष्य भगवानदास निरंजनीने जो खेमदासमें रहते थे निम्नलिखित ग्रंथोंकी रचना की है —

१ प्रेमपदार्थ २ अमृतधारा ३ भर्तृहरि-शतक भाषा ४ गीता माहात्म्य (१७४ वि) ५ कार्तिक माहात्म्य (१७४८ वि) ६ जैमिनि अश्वमेध (१७५५ वि) ७ अध्यात्म रामायण भाषा (१७२८ से ४१ तक) ८ एकादशी माहात्म्य।

शिवसिंह सरोजमें निपट निरंजनका उल्लेख है। इनका जन्म सरोजके अनुसार सं १६५ वि (१५९३ ई) है। इन्हें शिवसिंहने तुलसीदासकी समताका संत माना है। इनके शांतरस तथा निरंजन संग्रह नामक दो ग्रंथ शिवसिंहको उपलब्ध थे पर ये निरंजन सम्प्रदायसे संबंध नहीं रखते। ये नाथ संप्रदाय और दत्त सम्प्रदायसे प्रभावित थे। अर्पटनाथ इनके ध्यान गुरु थे।

मनोहरदास निरंजनीकी रचना ज्ञानमंजरी ज्ञान वचन चूर्णिका तथा वेदान्तभाषा है। इनका रचनाकाल सम्भवतः सं १९१६ वि के लगभग है।

श्री अगरचन्द नाहटाके सप्तसिंधु (मई १९६२) में प्रकाशित लेखके अनुसार तथा पूना विश्वविद्यालयके हिंदी हस्तलिखित संग्रहमें प्राप्त रचनाओंके आधारपर इनकी कुल रचनाएँ ६ हैं जिनका विवरण इस प्रकार है —

१ ज्ञानमजरी—रचनाकाल स १७१६ वैसाख सुदी १५, इसमें ४०५ पद हैं।
२ वेदान्त महावाक्य भापा—रचनाकाल स १७१७ आश्विन वदी १४, इसमे २९५ पद हैं।
३ ज्ञान चूर्ण वचनिका—इसके प्रारभमे ११ दोहे और ४ दोहरे हैं। शेष ग्रथ गद्यमे लिखा गया है।
४ शतप्रश्नोत्तरी—यह नौ खण्डोमे विभक्त है और १०९ प्रश्नोंके उत्तर गद्यमे दिये गये हैं।
५ पटप्रश्नी निर्णय—इसके भी दो भाग है। प्रथममे तीन प्रश्नोका उत्तर २३२ पद्योमे है और दूसरे भागमे शेष तीन प्रश्नोका उत्तर २९४ पदोमे है। बीच-बीचमे गद्यका भी प्रयोग है।
६ ग्यान भूमिका—श्री अगरचन्द नाहटाके अनुसार इसकी एक प्रति सरस्वती भण्डार, उदयपुरमें है।
७ वैराग्य वृद—मनोहरदासकी यह कृति पूना विश्वविद्यालयके हस्तलेख सग्रहमे है।

जगजीवजी—श्री अगरचन्द नाहटाके अनुसार इनकी वाणीमे चिन्तामणि और प्रेमनामा दो लघुग्रथ, ५९ पद और दो चन्द्रायण हैं। स्वामी मगलदासके अनुसार ये हरिदासके समकालीन थे।

घ्यानदास—इनकी रचनाओमे गुणबोध, गुणाविबोध, गुणमात्रा सेवाएँ तीन लघुग्रथ तथा कुछ चन्द्रायण मिलते हैं।

हरिरामदासजी—इनकी वाणी श्री अगरचन्द नाहटाके सग्रहालयमे स्वामी नरोत्तम-दासके गुटकेमे प्राप्त होती है। इनके द्वारा लिखित दूहा, कुण्डलिया, चौपाई, रेखता, पद आदि कुल मिलाकर ८४४ छद हैं। इन्होने ३६ पद्योंमे दयालजी हरिपुरुपजीकी परची भी लिखी। स्वामी मगलदासकी सूचनाके अनुसार परमार्थ पचसतसई और १४७ कुण्डलिया भी हैं। सवत् १७९५ मे इन्होंने छदरत्नावली नामक ग्रथ लिखा जो प्रकाशित हो चुका है।

आत्मारामजी—आत्मारामजीका साहित्य ७७१ छदोमे मिलता है जिनमे कुण्डलिया, चन्द्रायण, रेखता, पद, मनहर, साखी आदि सम्मिलित हैं। इनका देहावसान स १५१६ मे हुआ था। इनकी रचना भी नाहटाजीके सग्रहमे है।

मोहनदासजी—इनकी वाणी, जो साखी और पदोंके रूपमे है, नाहटाजीके सग्रहमें प्राप्त है। ये हरिदासजीके शिष्य थे।

कल्याणदासजी—कल्याणदासजीकी वाणीकी प्रति जावला और कोलिया मे है। नाहटाजीके सग्रहमे इनके केवल १० पद प्राप्त होते हैं। ये भी स्वामी हरिदासके शिष्य थे।

भरीदासजी—ये हरिदासजीके ५२ शिष्योंमेंसे थे। इनकी बानीकी एक प्रति फतेहपुरके बड़े मन्दिरमें है जिसमें १९ राग रागनियोंमें ११९२ पद मिलते हैं। स्वामी मंगलदासके विचारसे इनकी समस्त सूचनाएँ प्राप्त नहीं हैं।

रूपदासजी—ये हरिदासजीकी आठवीं पीढ़ीमें हुए। ये अमरदासजीके शिष्य थे। इनकी शिष्य-परम्पराके बालकीदासजी बालोतरामें हैं। लाखड़िया गाँवमें इनकी रचनाओंकी एक प्रति प्राप्त है जिसमें ५१५ साखियाँ ११५ कुंडलिया ७३ चंद्रायणे १४ सवैये २९ रेखते और ७९ पद हैं। इन्होंने संवत् १८१२ में सेवादासकी परिचयी लिखी जो २१ विश्रामोंमें विभक्त है और ५५ दोहा चौपाइयोंमें पूरी हुई है।

रामप्रसाद निरंजनी—इनकी संवत् १७९८ में लिखी योगवासिष्ठभाषा खड़ी बोली गद्यमें है। ये पटियाला दरबारमें थे और महारानीको कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि पंजाबमें भी निरंजनी सम्प्रदायका प्रभाव रहा।

भगवानदास निरंजनी—इनके द्वारा रचित पाण्डवयशेन्दुचन्द्रिका एक सुन्दर ग्रंथ है। साथ ही इनका गीताका भाषानुवाद भी मिलता है।

पोकरदास—पोकरदास द्वारा रचित गुरुपदेश योग नामक ग्रंथ नाहटाजीके संग्रहमें प्राप्त है।

रामबोलास—ये मोहनदासजीके शिष्य थे। इन्होंने गुरुमहिमाके सवैया और पद लिखे हैं।

जयरामदास—ये आत्मारामजीके शिष्य थे। इनके भी गुरुवंदनाके छप्पय और पद मिलते हैं।

चतुर्भुजदास—इन्होंने भी गुरुमहिमाकी साखियाँ लिखी हैं।

अमर पुरुष—ये सेवादासके शिष्य थे और सिद्ध पुरुष थे। इनके भी कुछ पद प्राप्त होते हैं।

रघुनाथदास—ये अमर पुरुषके शिष्य थे। इनके द्वारा रचित हरिदासजीकी परिचयी मिलती है जो ११८ कवित्तों और १५ विश्रामोंमें पूर्ण हुई है। इसका उल्लेख परिचयी साहित्यमें है।

प्यारे राम—ये अमर पुरुषके पात्र शिष्य दर्शनदासके शिष्य थे। इन्होंने सं० १८८१ में २४ छन्दोंका भक्तमाल बनाया था जिसकी प्रतिलिपि स्वामी मंगलदासके पास है।

संतदास—इनका रचा गुरुवन्दनाष्टक मिलता है जिसे स्वामी मंगलदासने प्रकाशित किया है।

दत्तदास—इनके लिखे होली धमार आदिके पद मिलते हैं।

उदयराम—इन्होंने कवीर, हरिदास, तुरसी आदि सतोकी रचनाओका सग्रह 'सार सग्रह' नामसे तैयार किया था ।

भाऊदास—इनके द्वारा रचित 'गुदडी' है जिसमे हरिदासजीके शिष्योका नामोल्लेख है । स्वामी मगलदास द्वारा यह ग्रथ भी प्रकाशित हुआ है ।

कोमलदास—इन्होने भी हरि पुरुषकी परिचयी लिखी है ।

पूर्णदास—ये नवलगढ शेखावटीके रहनेवाले थे । इन्होने हरिदासकी परिचई और कुछ पद लिखे । इनका समय स १८१० के लगभग है ।

जानकीदास—ये वालोत्तराके निवासी थे । इन्होंने हरिपुरुषजीका जीवन चरित स १८६२ मे प्रकाशित कराया ।

गोकुलदास निरजनी—इनका ग्रथ 'प्रेमपत्रिका' पूना विश्वविद्यालयके हिंदी हस्त-लिखित सग्रहमे है ।

इन निरजनी सतोके अतिरिक्त कालिदास, रामचद्र शर्मा, आशाराम दाधीच, चतुर्भजदास आदि अनेक सत निरजनी सम्प्रदायसे सम्वन्धित है । परतु निरजनी सन्तोकी परम्परामे अत्यधिक विशाल रचना करनेवाले और प्रसिद्ध सन्त तीन हैं— स्वामी हरिदास, सेवादास और तुरसीदास ।

'**तुरसीदास**' की रचना सेवादासको छोडकर और सवसे अधिक विस्तृत है । प्राप्त सग्रहमे इनकी विपुल वाणियोका विस्तार इस प्रकारसे है — ४२०२ साखी, ४६१ पद (जिनमे २९ राग हैं), चार ग्रथ — १ ग्रथ चौ अक्षरी, २ करणीसार जोग ग्रथ, ३ साध सुलच्छन ग्रथ, ४ ग्रथ तत्वगुण भेद– श्लोक तथा शब्दी । इन सब ग्रथोकी भाषा वोलचालकी सधुक्कडी भाषा है । सर्वप्रथम **मिश्रबधु विनोदमे** इन तुरसीदासका जिक्र 'तुलसी' नामसे मिलता है । यद्यपि उसमे उनका अन्य विवरण नही फिर भी ग्रथोकी सूची उपस्थित है । 'विनोद' के अनुसार वे ग्रथ ये हैं —

१ नयनाभक्ति, २ अष्टाग योग, ३ वेदान्त ग्रथ, ४ चौअक्षरी ग्रथ, ५ करनीसार जोग ग्रथ, ६ साधु सुलक्षण और ७ तत्वगुन भेद ग्रथ ।

श्री डॉ वडथ्वालजीसे प्राप्त रचनामे उपरिलिखित तीन ग्रथोका विवरण नही है । प्राप्त सग्रहके अन्तमे हस्तलिखित प्रतिमे दिया है —

"**इती गुसाई जी श्री श्री तुरसीदासजीको कृत सम्पूर्ण ॥**
श्रव कृतकी सख्या ॥ साषी ४२०२ । परिकरन २०० ।
ग्रय ४ । पद ५६१ । राग २९ । श्लोक १८ । सवदी १० ।
सवत् १८२५ की कात्रक सुदि ३ वार सनीचर लिष्यते ।"

किंतु शिवसिंह सरोजमे और अन्य साहित्यके इतिहासोमे इन तुरसीका नाम भी नही आया है ।

तुरसीकी रचनाओंमें उनकी बहुज्ञता झलकती है। इनकी साखियोंमें ज्ञान भक्ति और योगके भिन्न-भिन्न अंगोंका विपुल विस्तारके साथ सुगठित वर्णन है। तुरसीने प्रत्येक साधनाके अंग-प्रत्यंगोंका वर्णन निर्गुण आधारपर किया है।

यह निरंजन पंथके दार्शनिक सिद्धांतोंके प्रतिपादक आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजन पंथके लिए तुरसीदासने वही किया जो दादूपंथके लिए सुंदरदासने किया। राघवदासने अपने भक्तमालमें तुरसीकी प्रशंसा करते हुए कहा है —

तुरसी जु बानी नीकी न्यारी है।

इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि तुरसीदासकी बानीमें योग और भक्तिका पूर्ण रूपसे विवेचन है। उसके अंग-प्रत्यंगोंको इन्होंने विस्तृत और विवेचनापूर्ण ढंगसे समझाया है जैसा कि इस ग्रंथके आगामी अध्यायोंसे स्पष्ट होगा। राघवदासके अनुसार तुरसीदासको सत्यज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी और अन्य वस्तुओंसे उनका मन हट गया था। वे भक्तमाल में कहते हैं —

> सीतल नैन बचै विय बैन महामन बीठि अतीत करारो।
> मायाको त्याग नहीं अनुराग करै भज मोजन तजि सवारो।
> बहु जिग्यास अभ्यासी है नांवको बोध जुगति सबै विधि सारो।
> राघो कहै करणी जिन सोभित देखो है दास तुरसी की अपारो।
>
> (भक्तमाल १५३)

तुरसीदासका निवासस्थान शेरपुर था। डॉ॰ बड़थ्वालजीने अपने भाषणमें तुरसीका समय भी निर्धारित किया है। वे गोस्वामी तुलसीदासजीके समसामयिक ही ठहरते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभाकी खोजमें तुरसीदासकी बानीकी एक हस्तलिखित प्रतिका उल्लेख हुआ है जिसमें इतिहास समुच्चय की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है। इतिहास समुच्चय के अंतमें लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि॰ संवत् १७४५–१६८८ ई॰ में ऊधोदासके शिष्य नारायणदासके शिष्य तुरसीदासने की थी। इतिहास समुच्चयके अंतका विवरण यों है —

इतिश्री महाभारथे इतिहास समुच्चये तैंतीसमों अध्याय ॥ ३३ ॥ इतिश्री महाभारथे संपूर्ण समाप्त। संवत् १७४५ शुभे मास कार्तिक सुदी ७ बार सनीबासरे ॥ नगर शाखार सुथाने शुभमस्तु लिपतं स्वामीजी श्री श्री श्री श्री १ ८ ऊधोदासजी को शिष्य स्वामीजी श्री श्री श्री श्री १ ८ श्री श्री नारायणदासजीको शिष्य तुलसीदास[1] बांचे जिसको राम राम।

---

[1] यद्यपि ना॰ प्र॰ पत्रिकाम प्रकाशित भाषणमें तुलसीदास ही लिखा है, किन्तु हस्तलिखित प्रतिमें तुलसीदास नहीं किन्तु तुरसीदास ही है और तुलसीदास भूलसे छप गया है।

डॉ भवानीशकर याज्ञिकने डॉ बडथ्वालजीको सूचित किया था कि इतिहास समुच्चयकी उपर्युक्त प्रति निश्चित रूपसे तुरसीदासके हाथकी लिखी है और उनके पास तुरसीदासके हाथकी लिखी और भी सामग्री है। तो इस प्रकार तुरसीदासकी स १७४५ के बाद तककी उपस्थिति निश्चित हो जाती है। पुन राघवदासने भी तुरसीका उल्लेख वर्तमानकालमे किया है और जान पडता है कि तुरसी राघवके भक्तमालके लिखे जानेके अवसर तक आध्यात्मिक ज्ञानके लिए प्रसिद्ध हो चुके थे, अत वे अवश्य बूढे हो चुके होगे। इसलिए महाभारतकी प्रति स १७८५ मे लिखना सत्य जान पडता है। अत तुरसीका समय विक्रमीय १८ वी शताब्दीका प्रारम्भ कहा जा सकता है। इस प्रकार यह प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदासके समसामयिक किंतु कुछ पश्चात् अवतरित हुए थे।

उपर्युक्त उद्धरणमे तुरसीके गुरु श्री स्वामी लालदासजी ठहरते है। मौखिक रूपसे तुरसीका गुरु चाहे कोई भी हो किंतु सैद्धान्तिक रूपमे तुरसी तथा अन्य निरजनी मत भी कबीरको ही अपने गुरुसे बढकर मानते थे। यहाँतक कि तुरसी कबीरके दर्शनका भी उल्लेख करते हैं —

कर सूँ कर गहि कृपा करि, दिषलाए निज ठाँव।
कृपा सिधु 'कबीर' की, तुरसी मैं बलि जाऊँ।

पुन

जब ते मोहिं दरसन दियो, मिटि गयो सकल कलेस।
तुरसी पायो परमसुष, सतगुरुके उपदेश ॥

कबीरको वे सिद्धोमे और परमात्मपदपर पहुँचे हुए भक्तोमे मानते हुए उन्हे अपना गुरु, अपना आराध्यदेव सभी मानते है। एक पदके अन्तमे वे कहते हैं —

अति आतुर ह्वै उमगि चल्यौ मन नैंक न छाडत तीर।
जन तुरसी बिरहिन भई सिलता, सागर सिव कबीर ॥

खेद इस बातका है कि बहुतेरा प्रयत्न करनेपर भी तुरसीकी जीवनी-सबधी अन्य बाते नही प्राप्त हो सकी। यह लेख डॉ बडथ्वालजीके पास तुरसीकी रचनाओंके सग्रहके आधारपर है जिसको उन्होंने श्री शुभकरण चारण, एम, ए, एल एल बी (जोधपुर) से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियोसे अनुकरण कराया है। इसके लिए मैं उनका परम आभारी हूँ। यह हस्तलिपि सिनावडा गाँवके देवालयमे, स्वामी अमरदासकी पुस्तकसे उनके शिष्य मगलदासने अपने हाथसे की थी जिसका वर्णन उस हस्तलिपिके अन्तमे यो दिया है —

† "लिषते गाँव सिनावडा मधे ॥ देवल कै माहे लिख्यौ छे ॥ पुस्तक श्री स्वामीजी श्री श्री सेवादासीजीका सिष श्री श्री अमरदासजी ॥ कौ सिष मगलदास

† यह अश पृष्ठ २३ में उद्धृत अशके बादका है।

लिपतं च अपना हस्तं ।। सिष बनमालीदास । सिष सुखरामदास । सिष रामदास ।। साध निरंजनी बिरक्त । बासी पेमजीको । काली डहरे का साध । स्वामीजी श्री श्री खेमादासजीका ।। पुस्तक स्वामीजी श्री श्यामदासजीको छै ।। सुसिष मंगलदास नैं दयाकरी छै ।। पुस्तक मंगलदास सिष बनमालीदासने दया करी छै । बांचै बचावै तिसानैं राम राम बांचिज्यो जी ।। साध बनमालीदास पठनारथी ।। शुभं भवतु ।। इति देव निरंजनाय नमः । सकल महापुरुषाय नमः । गुरु चरणकमलेभ्यो नमः ।।

यद्यपि तुरसीदासके समयका भी पता चल गया है फिर भी जीवन-संबंधी अन्य घटनाओं और परिस्थितियोंका परिचय नहीं मिलता । संतोंका जीवन-संबंधी विवरण मिलना कठिन है और हमें हिंदी-साहित्यके प्रायः बड़े-बड़े संत कवियोंकी जीवनीके विषयमें नहीं निरखा है । या तो उनकी जीवन-घटनाएँ अनहोनी और अविश्वसनीय कथाओंसे परिवेष्टित हैं अथवा वे नितांत अज्ञात हैं । अतः तुरसीदासके विषयमें भी यद्यपि जीवनीका अभाव खलता है फिर भी हमें प्राप्त रचनाओंसे ही संतोष करना पड़ता है । न जाने कितनी अप्रकाशित रचनाएँ भी अज्ञात पड़ी हैं जिनके प्रकाशमें न आनेका अधिकांश उत्तरदायित्व उनके संरक्षकोंकी अनुदारतापर ही रखा जा सकता है जो कि साहित्यिक संस्थाओं और अन्वेषकोंको इस प्रकारकी साहित्यिक वस्तुएँ समर्पित नहीं करते और उन्हें स्वयं ही विनष्ट करते हैं । वे उसे चाहे जितना चाहते हों फिर भी वह कृपणका ही धन कहा जाएगा ।

— —

२

ग्रथ-परिचय

तुरसीका ज्ञानभण्डार तथा उनकी अनुभूति एव आनद-सबधी काव्यात्मक रचनाएँ निम्नाकित ग्रथोमे विस्तृत है –

(१) साखी, (२) ४ छोटी-छोटी रचनाएँ, (३) पद, (४) श्लोक व शब्द। इन सब ग्रथोका अलग-अलग महत्त्व है। साखी ग्रथ सबसे महत्त्वका है और मुख्य ग्रथ है, जैसा कि तुरसी स्वय ग्रथ महिमाके प्रकरणमे कहते हैं –

तुरसी यामें सबको सार।
हम नीकै कीयौ निरधार॥

यथार्थमे इस ग्रथमे विशाल ज्ञानका समावेश है। भागवत, पुराण, वेदान्त तथा अनेक प्रकारके भक्ति-मार्ग और भिन्न-भिन्न गुरुओकी वाणियोका प्रभाव तुरसीकी साखियोमे मिलता है। इस ग्रथमे इन्होने ४२०२ साखियोमे ज्ञान, भक्ति, योगका पूर्ण रीतिसे विश्लेषण किया है और यह विश्लेषण प्राय उपदेशात्मक है। भिन्न-भिन्न विषयोको तुरसीने प्रकरणो (परिकरन) मे बाँटा है और इस प्रकार साखियोका विस्तार २०० प्रकरणोमे है जो कि तुरसीके क्रमानुसार नीचे दिये जाते है —

ब्रह्मनाम स्तुति, गुरुदेव कौ परिकरन, वदन विधान (तथा इसी प्रकार अन्य २७ विधानो सहित), सिष कौ परिकरन, ग्रथ महिमाकी परिकरन (कनिष्ठ, मध्य तथा उत्तम अधिकारियोके तीन विधानो सहित), भक्ति कौ परिकरन (त्रिधा, नवधा, प्रेमा, स्तुति, मगल आदि २१ विधानो सहित), विरह कौ परिकरन, ग्यान विरह कौ परिकरन, परचा कौ परिकरन (दो विधानो सहित), रस कौ परिकरन, लावि कौ परिकरन, जरना कौ परिकरन, हैरान कौ परिकरन, लय कौ परिकरन, निहक्रर्मी पतिव्रता कौ परिकरन, चितावणी कौ परिकरन, मन कौ परिकरन, सुषिम मारग कौ परिकरन, सूछिम जनम कौ परिकरन, माया कौ परिकरन गुन विभाग कौ परिकरन (सत, रज, तम, गुनमुमिनत, सतगुनवृद्धि त्रिगुन अवस्या आदि १२ विधानो सहित), लोभ कौ परिकरन, निरलोभ कौ परिकरन, चानिक, कामीनर, सहज, (८७), सील, साँच, भरमविधूम, भेप, कुसगति, सगति, असाध, साध, साधसापीभूत, (९६), सत महिमा, साति, मधि, सारग्राही, अविचार, विचार, उपदेश, अविसवास, विसवास, पीव पिछाननो (प्रिय पहिचान), वैराग (५ विधान)

विचरै सतसंगति महीं, प्रीति करै अनाय ।
सोई परम निज वैसनो, सो पतिकू विसरि जाय ॥

द्वितीय "करणीसार जोग" ग्रंथ है। इसमे तुरसीने रोला छंदका प्रयोग किया है। अवधूतका लक्षण और उसकी क्रियाओका वर्णन इस ग्रंथमे है। इनके ये लक्षण आदि लगभग वही हैं जो इन्होंने अपने साखी ग्रंथमे साधु-असाधुके दिये हैं। अत इस ग्रंथकी विशेषता "रोला छंदों" का होना ही है। जिन अवधूतोंका वर्णन है, वे यथार्थमे निर्गुण साधनावाले साधु हैं जो धीरे-धीरे साधककी अंतिम कोटिमें पहुँचते हैं —

लालच लोभ निवारि आसा असथलि आवै ।
तहाँ बाजै अनहद तूर, नूरका दरसन पावै ॥

पुन साधु-अवधूतका वर्णन करते हैं —

निरधन रहै उदास, नहीं संगिदूजा भावै ।
है कलमल अतीह सोई अवधूत कहावै ॥

उसकी साधना और सिद्धिकी झलक दो पंक्तियोंवाले निम्न छंदमे हो जाती है —

तजै दुख अरु सुख, गगनमे आसन लावै ।
तहाँ देखै निज नूर, मगन ह्वै माँहि समावै ॥

इस प्रकार इसमे निर्गुणियोंकी साधनाका वर्णन है।

तीसरा ग्रंथ 'साध सुलछिन जोग' ग्रंथ है। यह 'साखी'के एक प्रकरणके समान ही है। फिर भी एक अलग ग्रंथके रूपमे निरूपण किया है जिसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि साधुजनोंके लक्षणोंको इन्होने अलग संक्षेपमे वर्णित किया है। इसमे साधुओंके लक्षणों तथा साधनोंका १८ दोहोमे वर्णन है जिनका आशय, साखीके दोहोंमे भी आ जाता है, किंतु इसमे विशेष विवरण न देकर सारबातोंका समावेश किया है। दोहे बड़े सुंदर हैं —

अलप अहारी, अलप सुख, अलपहि निद्रानेह ।
अलपि रमनि रमै जुगति सं, अलपहि सबद करेह ॥
सुष दिसि कबहुँ न पग धरै, दुष न देखि मुरझाय ।
दुष सुष द्वै सम्मान करि, समिता सम निरताय ॥
करम तजै करता भजै, करै न जग की कानि ।
काया नगरी षोजिकै, करता लेहु पिछानि ॥

इसी प्रकार सभी दोहे हैं।

चौथा ग्रंथ "तत्त्वगुणभेद" नामक ग्रंथ है। इसमें भी उपदेश है। इस ग्रंथमें संसारकी असारता एकरसता निरीहता समता तथा काम क्रोध लोभपर विजय और आत्मशुद्धि आदि साधकोंके व्यावहारिक विषयोंपर रोला छंदमें वाणी है। ये रोला चार चरणोंके नहीं वरन् दो चरणोंके हैं। यथार्थमें तुरसीका ग्रंथ शब्द पुस्तकसे तात्पर्य नहीं रखता किन्तु एक स्थलपर एक आशयकी सार रूप बातें संक्षेप रीतिसे एक क्रमसे लिखना ही एक ग्रंथ रचना है। इस प्रकार तुरसीके विचारसे साखी कोई ग्रंथ नहीं क्योंकि उसमें अनेक सिद्धांतोंका विवेचन है और संभवतः वे एक साथ संकलित रूपमें न कही गयी हों बादका संग्रह किया गया हो। पद भी किसी ग्रंथमें सम्मिलित नहीं है। इसी प्रकार अंतमें सबदी है। साखी और सबदी लिखनेकी प्रथा निर्गुण साधुओंमें थी। साखी परंपरासे प्राप्त ज्ञान भण्डारका सबदी अपने उपदेशोंका तथा पद अपनी अनुभूतिका प्रकाशन रहा है ऐसा जान पड़ता है। काव्यकी दृष्टिसे पद और ज्ञानकी दृष्टिसे साखी महत्त्वके हैं। तुरसीने ग्रंथ नाम "चौअक्षरी करणीसारजोग साध सुलक्षण और तत्त्वगुणभेद" इन चारको ही दिया है।

"तत्त्वगुणभेद" में संसारका तत्त्व क्या है इसकी चर्चा है। सब तत्त्वकी बात रामनाम ही है।

राम नाम ततसार, सुमिर अभिअंतर प्रानी।
भरम-करम मिट र समझ सतगुरुकी बानी ॥ १ ॥
काल जाल जंजाल लागि तन मन मति खोवै।
भरम निसा में बैठि सुपन सूरति मति सोवै ॥ २ ॥

ये दो इन्हीं सार-रूप उपदेशोंके उदाहरण हैं। इसी प्रकारके २५ छंद इस ग्रंथमें हैं जिनमें तत्त्व-गुणोंका वर्णन है। इन तत्त्वोंको जान लेने और उनके अनुसार आचरण करनेसे तुरसीका मत है कि फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता —

सब ही मत औगाहि सार मत तोहि सुनाया।
ऐसी करनी करै तो बहुरि फिरि धरै न काया।

इस प्रकार इनकी ये चार ग्रंथ नामक छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। काव्यानुभूतिकी दृष्टिसे अथवा शास्त्रीय तुलनाकी दृष्टिसे इनका विशेष महत्त्व नहीं कहा जा सकता किन्तु इनमें एक बात अवश्य है कि नामकी बातें सूत्र रूपमें एक स्थलपर एकत्र हैं। साधुओंके लक्षण कर्तव्यका सार (करणीसारमें) तथा तत्त्वकी बातोंका ज्ञान संक्षेपमें इन ग्रंथोंमें रख दिया गया है यही इनका महत्त्व है।

तुरसीकी रचनाओंमें यहाँ तक तो सिद्धांत निरूपण और उपदेश ही प्रधान हैं किन्तु साधनासे जाग्रत अनुभूति जिस प्रकारका आनंद प्रदान करती है उसकी झलक हमें तुरसीके पदोंमें पूर्ण रूपसे मिलती है।

गीत या पद सगीतका प्रधान अग है। भारतीय सगीत जहाँ वहुत विस्तृत है वहाँ वह नितात शास्त्रीय व वैज्ञानिक भी है। उसमे अनेक राग-रागिनियोका समावेश वहुत ही प्राचीन समयसे है। प्रत्येक रागका स्वरूप और उसका समय भी निश्चित है। किंतु सगीतका यह रूप परपरागत आज तक जीवित रखनेका श्रेय प्राय सतोको है। अपने सितार और तबूरे अथवा खजडीपर कीर्तन करनेके लिए वे समयके उपयुक्त रागका प्रयोग करते थे। सगीतके सूक्ष्म आनदके रसास्वादन करनेका सौभाग्य निर्द्वन्द्व सतोके समान और किसको हो सकता है? वल्लभ सप्रदायके सत, अष्टछापके कवि सभी प्राय सगीत द्वारा कीर्तन किया करते थे और ज्ञानविद्या विशारद सूरने तो अनेक राग-रागिनियो द्वारा सगीत प्रवाहसे सागर ही भर दिया है। गोस्वामी तुलसीदास, मीराँवाई तथा अन्य प्रमुख सगुणोपासक सतकवि भी अनेक गीतो व पदोके निर्माता थे और आजकल सगीतमे प्रयोग होनेवाले पद प्राय इन्ही सत-कवियोके गीतोसे ही लिये हुए हैं। तुलसीकी गीतावली और विनय-पत्रिका सगीतमय पदोकी मजुल मजूषाएँ हैं।

निर्गुणी सत-कवि तो नाद तत्त्वको और भी महत्त्व देते थे और अनहद-नादके अभ्यासी आनद-उल्लासमे अपने शिष्योंके सामने गाते हुए पद-स्रोतिनी वहाकर सवको श्रवणामृतका पान कराते थे। इनमे सव सगीतशास्त्र विशारद थे यह तो नहीं कहा जा सकता। यथार्थमे वे शास्त्रीय पद्धतियोंके तो विरोधी थे, किंतु इन निर्गुणी सतोमे पद कहने वा गानेकी रीति-सी थी। कवीरके अनोखे भाव व अनूठी भावनावाले गीत तो समाजमे चिर प्रचलित रहेंगे ही। निरजनी सतकवि "तुरसीदास" ने भी अपनी साखी तथा अन्य ग्रथोंके साथ-साथ पद-रचना भी की है। यह इतनी पर्याप्त तथा सुदर है कि उसका स्थान हिंदी साहित्यके अच्छे पदोके साथ-साथ ही होगा। यथार्थमे तुरसीका काव्य हमे इन्ही पदोमे ही मिलता है। इनमे भाव और उपदेश तो वही आत्मशुद्धि तथा विरह-प्रेमके ही हैं किंतु इनके साथ ही सगीतकी मधुरिमाका भी समावेश है।

तुरसीको साधारण सगीतका पर्याप्त ज्ञान था और गानेकी दृष्टिसे उनके पद उत्तम हैं। तुरसीने कुल मिलाकर ४६१ पद लिखे हैं और इन पदोको २९ राग-रागनियोकी ध्वनिमे प्रवाहित किया है। रागोके नाम, उसमे आये पदोकी सख्या तुरसीकी रचनाके अनुसार निम्न है—

१ राग गौडी (२७ पद), राग पछाही गौडी (४ पद), राग जगली गौडी (७ पद), २ राग रामकली (३३ पद), ३ राग आसावरी (४४ पद), ४ राग सीधडो (१ पद), ५ राग सोरठ (३५ पद), ६ राग धनाश्री (३१ पद), ७ राग जैतश्री (३२ पद), ८ राग मालश्री (११ पद), ९ राग सारग (२८ पद) १० राग मलार (९ पद), ११ राग टोडी (१२ पद), १२ राग वसत (११ पद),

१३ राग काफी (३ पद) १४ राग गौड़ (११ पद) १५ राग भैरू (२ पद) १६ राग बिलावल (७ पद) १७ राग कासवारी (४ पद) १८. राग कल्याण (४ पद) १९. राग हमीर (३ पद) २० राग इमन (१ पद) २१ राग कानरी (११ पद) २२ राग हुसैनी कानरी (७ पद) २३ राग केदारी (१३ पद) २४ राग बिहंगरो (९ पद) २५ राग मारू (१२ पद) २६ राग नट (१ पद) २७. राग ललित (२ पद) २८. राग मालवा (२ पद) २९ राग देवगंधार (१ पद)। उपर्युक्त रागोंमें तुरसीके पद विस्तारित हैं। इन पदोंमें सरसता, प्रवाह और भापाकी मधुरिमा पूर्ण रीतिसे विद्यमान है। ये सुंदर गेय पद कबीरके पदोंसे मिलते हैं। प्रथम पद गुरुकी प्रशंसामें है —

> गुरु मेरा प्यारो रे प्यारो महा बिन अबतरिको गति जानी।
> सार वस्तु सब हिरदे धारी छार दिवे बिसरानी।
> निरति सुरति मनि अंतर पिवसूं, प्रीति सहित लपटानी॥
> अंजन मंजन सबे बिसारे, मन मनसा गहि आनी।
> मारसि सहत आत्मा माही पारमातम परवानी॥
> बीच पचीसूं पयतत धरे निरगुन सं बई आनी।
> कहि तुरसी चौथा पद माही भया गरक गलतानी॥

पदोंकी एक और विशेषता आत्माभिव्यंजन होती है। गीतोंमें कवि अपनी आतरिक अनुभूतिको रख देता है। अपनी वेदना प्रकट करना, मनको बार-बार समझाना, परमात्मासे प्रार्थना करना—ये सब अन्तरतमकी भावनाओंसे सबंधित होते हैं। इनमे भावोंकी तीव्रता और सत्यता होनेके कारण काव्यकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वके हैं। तुरसीके पदोंमें भी आत्माभिव्यंजन की झलक है। इस प्रकारके पदोंको हम तीन भागोंमे विभक्त कर सकते हैं — प्रथम-विनयके पद द्वितीय-चेतावनीके पद और तृतीय आनंदके पद।

ससारकी विकरालतामें जीवकी असमर्थताकी जब अनुभूति होती है तब विनयके पद निसृत होते हैं। उस समय परमात्माके सम्मुख हृदय खोलकर रख देने और एक उसीका सहारा माँगनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता है। ऐसी दशामें ही भावो तुरसीका व्यथित हृदय गा उठता है —

> अब मोहि तारौ साहिब मेरा।
> दीन दुखी दूबत भव मोही करहु सहाय सबेरा।
> [illegible]
> प्राहु अनंत काल होय सामा बहिया ग्राम हमारा।

ममता मीन अरु मोह मगरमिलि, मोहि सतावे भारी ।
मोह भंवरमें परा परवसू, करगहि काढ़ि मुरारी ।
थकि रहे वीचि विषम भवमाहीं, कहीं कहा वल मेरा ।
जन तुरसीके और न कोई, एक भरोसा तेरा ॥

इस विषमता और असामर्थ्यका अनुभव करके परमात्माके सम्मुख वे आत्म-समर्पण करते हैं । इस प्रकार सवको उपदेश देनेवाले महात्माकी यह आन्तरिक झलक वडी द्रावक और प्रभावकारी है । विनयके पदोमे अपनी कमज़ोरीको देखकर परमात्माके करुणात्मक गुणोके लिए साधक भक्त बनकर अपनी अपील करता है । अपने सभी गुणदोप परमात्माको ही समर्पित कर अपनी दीनता प्रकट करता है और क्षमाकी याचना करता है । अपने अपराधोका निवेदन और भक्तिकी याचना इनका प्रधान विपय है । तुरमी कहते हैं —

माधौ जी हम अपराध भरे ।
जनम पाय सुकृत नहिं कीन्हें, दुष्कृत वहुत करें ।
जेते पाप हुते भुवि ऊपर, ते हम सकल करे ।
जा करनी भवसागर तिरिये, सो चित तैं विसरे ।
काम, क्रोध, अरु लोभ, मोह सव औगुन अनत करे ।
पावन नाम तुम्हारो तजिकैं, पाप पुनि सुमिरे ।
जो साई फिर लेखा मांग्या, हो जीवरे नरक परे
दया मया करि सव फिलि कीजे, तो तुरमी उवरे ॥

इसी प्रकारके अनेक पद विनय-भावनासे पूर्ण हैं, जैसे —" माधौजी होउ दयाल मेरी साल, अवकै मोहि उवारो " तथा अन्य पद भिन्न-भिन्न रागोमे हैं ।

दूसरी प्रकारके चेतावनीके पद हैं । जव मनकी चचलता और उद्दण्डता वढने लगती है, तव मनको समझानेके लिए चेतावनीके पद निकलते हैं । इन पदोमे ससारकी असारता और परमात्माके चिरानदमय गुणोका वर्णन है जिसमे मनको ससारसे विराग और परमात्मामे अनुराग उत्पन्न हो । इसी प्रकारकी प्रेरणासे उद्धृत निम्न पदमे कितना विराग निहित है —

मन मीत हमारे, यहां नहीं थिराऊ कोयरे ।
चल्या जाय लोय रे ।
सकवधी राजा ह्वै वीते, राम भजन विनु गये जुरीते ।
हाथ झुलावत सोय रे ।
यह जानि जग ममत निवारो रहो नाम रत होय रे ।
इत्यादि (पृ ३५५-८)

इसी प्रकार संपूर्ण पद विराग भाव उठानेवाला है। फिर उधर परमात्माके गुणोंमें कितना आकर्षण है जिसकी ओर मनको आकर्षित करना चाहते हैं। वह अलौकिक गुणोंवाला है —

अब तूं जाव रे जाव मन प्रीतम करि सोय ।
पंड ब्रह्मंड अनत लोक में तारनि और न कोय ॥
निरालंब निर्वैर असाई अजरअमर अभयंत ।
सब गुन रहत सकलकी जीवनि सब साधूका कंत ॥
सकल बियापी सब तें न्यारा सब देवां सिर देव ।
जा में मन न सकहि जाई ऐसा अलख अभेव ॥
सब सुख सागर गुन सब दाता सबका सिरजनहार ।
कह तुरसी आवागमन मेटि अब राखे परम मझार ॥

इसी प्रकारके चेतावनी-संबंधी पदोंमें सांसारिक आकर्षणकी वस्तुएँ, कनक व कामिनीका प्रचुर रूपसे विरोध है।

मनका प्राबल्य इस बातसे लक्षित है कि साधक अपनी साधनाके मार्गपर बढ़ता हुआ भी मनकी प्रवृत्तियोंको दुर्जय पाता है। उसका पूर्ण रूपसे वशमें आना बिना परमात्माकी कृपाके संभव नहीं। तुलसी और सूरकी रचनाओंमें इस प्रकारके पद पाये जाते हैं। तुरसी भी अपने पदोंमें बारंबार यही ध्वनि भरते जान पड़ते हैं। अतः यह प्रतीत होता है कि साधककी सबसे बड़ी लड़ाई मनके साथ है —

यह मनुआं अपराधी कामी चेते नहीं गँवारा ।
राम सुरति कबहूं नहिं आनै औरै करै पसारा ।
तुम बिन कौन उबारे जनकूं तुम मेरे प्राण अधारा ।
तुरसीदास कहै मन तेरा मेटी सकल बिकारा ॥

(पृ २११ अंतिम ४ पंक्तियां)

इन चेतावनीके पदोंमें कभी-कभी मनको और कभी-कभी नरको संबोधित करते हैं। यह साधु सुलभ और गुरु-सहज-प्रथा है —

बहुरि नहिं पावहिं रे अरे नर ! ऐसी कंचन देह ।
तां तें अब आदि राम बिन सीखे करि करि अमल सनेह ॥

इस प्रकारकी बात सीधे हृदयपर चोट करनेवाली होती है और यही सन्तोंके तीखे वचन-बाण होते हैं जिनसे घायल होना मानो जीवन सार्थक करना है। इनका प्रभाव इतना अचूक इसलिए और है कि ये सीधे हृदयसे निकली हुई हैं। तुरसी कहते हैं —

रतन तन पाइयो रे, तो लै अरथ लगाय।
अरथ लगाये बिना अग्यानी, कौडी बदले जाय।
श्रवन कथा सुनि अनहदबानी, प्रेम प्रीति-ल्यौ लाय।
नैननि निरखि निरजन निसिदिन, निरमल रूप दिखाय।
कहा रसन, रसना हू बिन कहा, जेन केन किन भाय।
ज्यू रीझे त्यूं ही अब बौरे! अपने राम रिझाय॥

इत्यादि पदोंसे जान पडता है कि मन इतना सरल हो गया है कि सब बाते करनेके लिए उद्यत है। विवेक मनको बावरे, पागल इत्यादि शब्द कहकर फटकार रहा है। इसी आत्मीयताके कारण सतोंके पद विशेष चुभनेवाले होते हैं और तानसेनकी—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।
किधौं सूरको पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर॥

वाली सूर विषयक उक्ति ठीक जान पडती है।

सतोंके लिए काम और क्रोध दो प्रबल शत्रु हैं। भक्तोंको कामका डर और ज्ञानियोंको क्रोधका डर विशेष रूपसे रहता है। इन्हींके द्वारा मनको पतनकी ओर अग्रसर होते देखकर वे उद्वेलित हो उठते हैं। सूरदासजी कहते हैं—

अब हौं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोधको पहिरि चोलना, कठ विषयकी माल। इत्यादि

इसी प्रकारकी अनुभूति भक्तिकी साधनामे निरतर लवलीन गोस्वामी तुलसीदासजीकी भी होती रही है जिसका दिग्दर्शन विनय-पत्रिकाके निम्न पदसे भली भाँति हो जाता है —

मेरो मन हरिजू। हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउं सिख बहुबिधि, करत सुभाउ निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुण दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ शिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग, नेकु न मूढ लजै॥
हौं हारयो करि जतन बहुत विधि, अति सै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होय तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

भक्त अपनी विकार-शुद्धि भी परमात्माकी कृपासे ही सभव मानते हैं। इस प्रकारके स्वानुभूति-प्रकाशी पद तुरसी निरजनीके भी मिलते हैं जिसमे वे मनको दुर्जय कहते हैं और परमात्म-कृपासे ही उसकी शुद्धि सभव मानते हैं —

हरि बिन कर्म बियाधि न जाय।
एह दरसन जोगी जती सब थके करत उपाय। (इत्यादि पृ १११)

इसी प्रकार –

कैसे नेह लगाऊं राम सूं मन विरचै नहीं काम सूं।

किन्तु जब मन बशमें हो जाता है तब परमात्माका वियोग खलता है। आत्मा परमात्मासे मिलनेके लिए उत्कण्ठित हो जाती है। इसी दशाका अनुभव कर तुरसीका हृदय गा उठता है –

महा कष्ट यह जीव।
अधुलक बिन बिछुरे भये सजनी सुहावइ न धन धाम।
पलक-पलक बीतत जु कलप मोहिं बिन देखें वै राम।
धगु मेरो जीवन जु जनम धृग, मेरी मति देह।
बिछुरे परम सनेही प्रीतम वैसौ धूं भई केह।
सेज्या सिंघ सिंगार सरपसम हूं लागै मोहिं मांई।
बिरह अगिनि दारुन दौ लागी बुझे न रही बुझाई।
बहु बिन कहीं आवही कब मोहिं हंसि मेंटिहै जु राम।
जन तुरसी मेरे जन्म जन्मके सरै सकल ही काम॥

ऐसी दशामें शय्या सिंहके समान और शृंगार सर्पके समान दुखदायी है। इस प्रकारकी वेदनात्मक अनुभूति जानकी भूमिका है जो कि इन आत्माभिव्यंजक पदोंका तीसरा अंग है। विरहके पदोंमें तुरसीकी दृष्टि रामकी ओर है किन्तु जब साधक परमात्माका सामीप्य अनुभव करने लगता है तब उसके गीतोंमें आत्मानंदका आभास मिलता है। इसीका वर्णन निम्न पदमें है—

हृदयमें बाजत अनहद बीन।
मधुर मधुर मांही ही मांही मन मृग भयो तहां लीन।
पांची थकि थकि रहे तहां ही फिरि न पयाले कीन।
नाना नाद अनंद फंद में परि भये बिबै बिहीन।
इत उतकी चितवनि तब चूकी चित नादै भयो लीन।
बिसरे या बिधुकी शु बाजी बिन जोगिन अस कीन।
जन तुरसी या सुखकी बातें जहां तहां प्रतच्छ हीन।
ते पूरब सबि पछिम आए तिन ही मनो यह बीन॥

अब आनंदका वातावरण उसके सम्मुख है और वह उस आनंदमें निमग्न है। यही सतोंका आनंद है जिसको व्यक्त करनेका प्रयास उनके पदोंमें है, इसीलिए पदकी रचना प्राय सतकाव्यमें ही मिलती है जिनको गाते-गाते निरीह और निर्विकार आनंद हृदयमें भर जाता है। आगामी पद पुन उसी आनंद-उल्लासका द्योतक है –

सखी आनदकी रितु आई ।
उलटि लग्यो वा उनमन सूं मन तनकी थिया गंवाई ।
राग वसत होइ रह्यो अतर, वाजै अनहृद-ताल ।
पांच सखी मिलि मगल गावैं, उडै तव ग्यान गुलाल
गुन तत् ग्वाल गोप इन्द्रीगन, आय भये इक ठौरा ।
षेलत फाग अभिअतर पिवसो, आनद भयो अपारा ।
जै जै कार करैं सवकोऊ गन गन्ध्रव सुर देवा ।
दीन लीन आनद विभोर सूं लागि रहे हरि सेवा ।
आनद ही आनद रहत सखि, जहां तहां विथकित सोय ।
जन तुरसी या सुषकी महिमा वरनि सकै का कोय ।

इस प्रकार यह आनदकी अनुभूति पदोका तीसरा क्षेत्र है । अत तुरसीके पदोमे पूर्ण काव्य है जिनका विवरण काव्यके प्रकरणमे करना विशेष उपयुक्त होगा ।

इन पदोके अतिरिक्त तुरसीकी रचनामे १८ श्लोक और १० सवदी है । श्लोकोमे हिंदी, संस्कृतमिश्रित अपभ्रशके शब्द संस्कृत छदोमे घटित है । इनमे पडिताऊ ढगपर रामनाम-महिमाका वर्णन, साधु-लक्षण तथा अन्य उपदेश है । उदाहरणार्थ, रामकी महिमापर निम्नाकित छन्द है —

राम नाम उचरसि प्राणि । राम नाम महा अमृतवानी ।
राम नाम त्रिलोक सार । राम नाम सुमिरि भये पार ।

योगीके लक्षण इस प्रकार कहते हैं —

असनान स्थिर कृत्वा, अल्प भोजनमाचरेत
अल्प निद्रा अलप तृषा, प्रथमे योगिस लक्षण ।

फिर कहते है —

सतजुग सत्यत पूजा, त्रेतायां तप उचिते
द्वापरे षट करमण, कलौ हरि नाम श्रेष्ठय ।

ये श्लोक खिलवाड-से जान पडते हैं । इनमे न कोई तत्त्व है और न अभिव्यजना, केवल संस्कृत श्लोककी शैलीका अनुकरण मात्र ही जान पडता है ।

इनकी 'सवदी' मे यद्यपि साधना-सबधी प्रखर अनुभव हैं किंतु यह भी विशेष महत्त्वकी रचना नही है । इनमे भी साधारण सतसुलभ उपदेश हैं जो कि साखियोमे कहे गये हैं । हां, इन सवदियोमे प्राय योगके रहस्यवादी ढगपर उपदेश और प्रतीक-पद्धति पर साधना-सबधी वाते हैं । उदाहरणार्थ —

रविकी कला जु अस्त भई है, तब ससिकला प्रगटानी ।
अंधकारमें भया उजारा तहाँ ध्यान गरीब रविमानी ।

इसी प्रकार —

त्रिष्णा त्यागि त्रिपति होय बैठौ लछि अलछिमें हाथ न मेलौ ।
रहै अपरिग्रह परम उदासी तो सन्यासी सुषमें बासी ।।

इस प्रकार इसमें भी पुनः पूर्वकथित बातोंको ही फिरसे दुहराते हैं। अतः ये किसी विशेष महत्त्वकी नहीं हैं। फिर भी संतोंका बार-बार दुहराना उसको प्रभावशाली बनानेके उद्देश्यसे प्रेरित रहता है और यही बात हम उनकी सबदियोंमें भी पाते हैं।

तुरसीकी बहुज्ञता

तुरसीदासकी रचनाओंसे इनकी बहुज्ञता झलकती है। यद्यपि ये सुशिक्षित नही जान पडते, भाषा-सबधी ज्ञान--चाहे सस्कृत हो या भाषा--इनका अधिक न था क्योंकि इनकी रचनामे वर्ण-विन्यास-सबधी तथा छद-सबधी अशुद्धियाँ प्रचुर रूपमे हैं, तथापि इनका ज्ञान-भण्डार विशाल जान पडता है। ग्रथोका स्वय अध्ययन इन्होंने किया हो ऐसा नही कहा जा सकता, किंतु इनको सत्सगसे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हुआ। अत इनकी साखियोमे जो सबसे पहली बात ध्यान आकर्षित करती है वह इनकी शास्त्रीय बहुज्ञता है। इनकी रचनामे, विशेषकर साखियोंमे परपरासे प्राप्त ज्ञानको व्यवस्थित क्रमसे रखनेका प्रयास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक विषयका इन्होंने भेदोपभेद और अग-प्रत्यगोके साथ विश्लेषण करते हुए वर्णन किया है।

तुरसीने भक्ति पद्धतिके निर्गुण रूपको अपनाया है और सपूर्ण ज्ञानका अपनी छाप देकर, विवेचन किया है। कबीरकी भाँति ‡ तुरसीदास भी पठन-पाठन और शास्त्रीय विद्वत्ताको विशेष आदरकी दृष्टिसे नही देखते थे। हाँ, यदि इस प्रकारका ज्ञान आत्मदर्शनकी ओर ले जानेवाला होता है तो वह सार्थक समझते थे, अन्यथा तुरसीके मतमे —

कहा विविध व्याकरण पढे रे, का पढ़े वेदपुरान।
तन मन को मल ना मिटे बिना भजे भगवान॥

फिर भी तुरसीकी प्रवृत्ति तत्त्व समझनेकी प्रेरणासे युक्त है और वह मूक ग्रथोंसे उतनी नही आयी, जितनी कि साधनाकी कसौटीपर विद्वत्ताको कसने-वाले, 'राम नाम' के जौहरी मुखर गुरुसे मिली है। यही कारण है कि वे सर्वप्रथम अपने ग्रथमे 'ब्रह्मनाम' की निराकार स्वरूपमे स्तुति करनेके पश्चात् गुरुकी वदना करते हैं। केवल वदना ही नही, 'गुरुदेव' का एक पूरा प्रकरण है जिसमे कि वे गुरुकी महत्ता और उसके विभिन्न स्वरूपोंमे शिष्यका सर्वस्व होना कहते हैं। गुरुका महत्त्व बतलाते हुए वे कहते हैं —

गुरु दाता महा मोछिका, गुरु मस्तकका मोर।
तुरसी गुरु सम कोउ नहीं, पूजि जगतमें और॥

---

‡ पोथी पढि पढ़ि जग मुआ पडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सो पडित होय॥ (कबीर)

यह बात वे प्रसगके प्रारभमे 'ग्रथ महिमा' के प्रकरणमे कहते हैं। इतना ही नही, वे इस ग्रथके अधिकारियोकी भी चर्चा करते हैं और उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकारके अधिकारी बताते हैं। अधिकारियोकी चर्चा करनेके बाद मगल विधानमय भक्तिके प्रकरणके साथ ग्रथका प्रारभ होता है।

'भक्ति' का प्रकरण भी बडा और विद्वत्तापूर्ण है। प्रारभमे तुरसी भक्तिको चार प्रकारकी बताते हैं— कर्ममिश्रा भक्ति, ज्ञानमिश्रा भक्ति, योगमिश्रा तथा वैराग्यमिश्रा भक्ति। इन सबका सार रूप अपना मत वे 'सार भक्ति विधान' मे दे देते हैं। इसके पश्चात् नवधा भक्तिका प्रकरण आता है जिसके विषयमे तुरसीका मत है —

तुरसीदास नवधा भगति, बरनी वेदन माँहि।
ताहि समझि डरि आचरै, तौ अतर मलजाँहि॥

पुन तुरसी नवधा भक्तिके दो प्रकार करते हैं निवृत्तिपरक और प्रवृत्ति-परक। तुरसी निवृत्तिपरक नवधा भक्तिको अपनाते हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये भक्तिके नौ प्रकार हैं। तुरसीने इन सबका निर्गुण उपासनाके अनुकूल वर्णन किया है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो इसके अनुकूल हो सकते हैं, किंतु पादसेवनका भी निर्गुण रूप इन्होने दिया है। तुरसी कहते हैं कि जिसके हाथ, पाँव, मुख कुछ नही है उसकी सेवा करना दुधारी तलवारपर पैर रखना है।

जाके हस्त न पादुका, श्रवण, नैन मुख नास।
तुरसीलिग चिहन बिना, कैसे सेऊँ तास॥

किंतु उसका भी उपाय बताते हैं —

तुरसी तेज पुंजके चरन वे, होडमाँसके नाँहि।

अत —

तुरसी रिदा कँवल महीं, ज्योतिमयी जगदीस।
ता चरननि लागे रहु, मनोमई अपना सीस।

'अर्चन' मे तुरसी आत्मान्तरिक पूजाका महत्त्व बतलाते है कि निरगुन मूल है जो दीखता नही है और सगुण शाखाओं और पत्तोंके समान है। मूलको सीचनेसे शाखाएँ और पल्लव अपने आप ही पोषित होते हैं, अत निर्गुणका ही अर्चन श्रेय है —

निरगुन सरगुन रूप द्वै, बरने वेदन माहि।
तुरसी निरगुन मूर है, सरगुन डारी आँहि॥

सब ही तरवर तृपति होय करत मूल जल पोय ।
तुरसी य निरगुन भगत सरगुन हूं होय संतोष ।।

तुरसीके विचारसे अर्चनके हेतु बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। शरीर ही मंदिर है यह मोक्षका धाम है और इसीके अन्तर्गत आराध्यदेव विराजते हैं। अतएव ज्ञानका दीपक जलाकर अनहदकी घंटध्वनिसे मानसको आरती करना चाहिए —

तुरसी यहु मंदिर यहु देहुरा यहु तन मोक्ष मुकाम ।
या ही भक्ति विराजती अमल आतमाराम ।
जोय जु दीपक ज्ञानको अनहद घंट बजाय ।
आनंद सूं करो आरती उमटि अभि अंतर माय ।।

इसी भाँति वंदन विधानमें तुरसीने लोक-दिखावा छोड और उठ बैठकर वंदना करनेके अतिरिक्त मन कर्म वचनसे सच्चा रहकर आंतरिक वंदनापर जोर दिया है।

लोक दिखावा का करे, भूमि परि परि भूमि झुकि ।
तुरसी भूमि मन क्रम वचन मर्म मांझिली मूंठि ।।

दास्य और सख्यमें भगवानकी सेवा सब फल-कामनाको छोडकर, बिना किसीकी निंदा किये तन्मय रहना तथा परमात्माके आगे उसे भिन्न मानकर अपनी सब बुराइयोंको मान लेना है। अर्चन वंदन दास्य सख्य रूपसे भक्तिके लिए निर्गुनी विशेष कर्मकाण्डके पीछे नहीं पडते। जिसके अंतर्गत आंतरिक शुद्धता है वह जो कुछ भी करता है वह परमात्माकी पूजाके रूपमें ही। कबीर इसी हेतु कहते हैं —

जहं जहं डोलौं सो परिकरमा जो कछु करौं सु सेवा ।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा ।।

अत: मुख्य वस्तु आत्मिक विकास है बाह्य दिखावा नहीं। आत्मनिवेदन तुरसीके अनुसार तन मन व आत्मा सबको परमात्माको अर्पण करके उऋण होना है। जब सब कुछ रामका है तब कोई वस्तु अपनी कहना तुरसीको दुखदायी जान पडता है —

तुरसी मैं मेरी मैं तो कहूं जो मेरी कछु होय ।
सकल सौंज है रामकी मैं कामे धरौं कोय ।।

इन नव प्रकारकी भक्तिके अतिरिक्त तुरसी दसवीं भक्ति प्रेमा-भक्ति बताते हैं। तुरसी इस प्रेमा-भक्ति को सबका प्राण बताते हैं उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

तुरसी प्रेमा भक्ति यह, मन विह्वल ह्वै जाय।
गावत गुन गोपालके, तन सुधि रहे न काय ।।
तुरसी प्रेम भक्ति उतपन भई, पूरन ससि लौं सोय।
तुरसी तहाँ त्रयतापकी, ज्वाला रहो न कोय ।।

भक्ति-वर्णनके पश्चात् तुरसी 'प्रेम-विरह' और 'ज्ञान-विरह' का वर्णन करते हैं। प्रेम-विरहमे आत्मा परमात्मापर मुग्ध हो जाती है, किंतु मिलनेमे विलव होनेके कारण वह विह्वल रहती है। ज्ञान-विरहमे ज्ञानीको ससारके कार्य विपरीत जान पडते हैं। यथार्थमे अपने समीपस्थ वातावरणकी प्रतिकूलतामे आत्माकी आकुलताकी अवस्था ही विरह है। प्रेम-विरहमे ससारके व्यापार व सुख उसे जलाते हैं और एक परमात्माका सम्पर्क ही शाति देनेवाला होता है, किंतु ज्ञान-विरहमे ज्ञानीको मायालिप्त ससारमे सब व्यापार उलटे ढगपर ही होते दीखते हैं और सत्यके आधारपर आत्माकी रक्षा होती है। इसी ज्ञान-विरहकी अवस्थामे ही '**उलटबांसी**' की तरहके कथन प्रसूत होते हैं। ऐसा ज्ञानी-विरही सबपर हँसता है, क्योकि उसके अन्तश्चक्षु खुल गये हैं। कबीर इसी आवेशमे कहते है —

पानी बिच मीन पियासी। मोंहि देखत आवै हाँसी।

तुरसी भी 'ज्ञान-विरह' के प्रकरणमे इसी प्रकारकी वाणी कहते है —

जल माँही एक झल उठी, सीतल सुधि सुभाव।
तुरसी ता पावक महीं, मीन करै बिचराव ।।
पानीमें प्रवेस किये, भहर भहर बरै अग।
तुरसी पावक परस ते, उपजै गग तरग ।।
वौ लागी दरियावमें, दगध भया पानी।
तुरसी या गतिको कोऊ, समुझै जग ग्यानी ।।

इस प्रकारके अनुभवोके साथ धीरे-धीरे परमात्माका परिचय बढता जाता है और उस रसका आनद निराला है। वह इस विषमय ससारके बीचमे अमृतके समान है। जो इस अमृतको पीता है वह राममय हो जाता है —

विष समुद्र ससारमें, सुधामयी हरि नाम।
तुरसी अँचया प्रीति सूँ, पलटि भये ते राम।।

इस रसको पीते-पीते कभी भी अघाई नही होती है। साथ ही वह रस भी अगाध है। उसका मादक प्रभाव बना ही रहता है।

तुरसी खुमारी लागी रहै, कबहुँ न अनरुचि होय।
अति ही मीठा अमर रस, अघावै नहिं कोय।

['लाविकौ परिकरन' तुरसी]

तुरसीके ज्ञान और उसकी महत्ताके उदाहरण लगभग प्रत्येक प्रकरणमें पाये जाते हैं। मन के प्रकरणमें तुरसी मनकी सूक्ष्मता चंचलता तथा उसके अन्य दुर्गुणोंपर प्रकाश डालते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मनमें अपरिमित शक्ति है जैसा कि एक वेदमंत्रमें है —

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

इसी प्रकार तुरसी भी मनको प्रबल मानते हैं किंतु वे उसको सहज ऊर्ध्वगामी नहीं समझते। उसका स्वभाव अपने आप अधोगामी तथा कुछ स्खलनशील और मसखरा-सा है यह तुरसीका विचार है —

तुरसी यह मन नपर ज्यु परीक्षा काठर घोरा आहि।
ज्यूं ज्यूं मारग चलाइये त्यूं त्यूं पकड़ी जाहि।
मनके मारे मुनि भये वन तजि बस्ती माँहि।
तुरसी यह मन मसखरा पल खोजिये जु तांहि॥

गीताके अनुसार मन इन्द्रियोंसे भी सूक्ष्म है और मनसे भी सूक्ष्म आत्मा है। तुरसी भी मनको अत्यंत सूक्ष्म मानते हैं। अत्यंत सूक्ष्म वस्तुएँ भी जहाँ संचार नहीं कर सकती वहाँपर मन अपनी वासनाओंका बल बल लादकर प्रवेश कर जाता है —

राई हू के बीच लगि जहाँ न संचर कोय।
तहाँ मन आप सँचर करै काम करक संजोय॥

अत: मनको वशमें करना ही भक्ति-पथपर प्रयाण है। मनकी चंचलता जबतक विद्यमान है तबतक उसे यथार्थ आनंद नहीं मिल सकता और जबतक मन पूर्ण अनुरागी या वशीभूत नहीं हो जाता तबतक वह विश्वास करनेकी वस्तु नहीं वह बहुत शीघ्र पतनकी ओर ढल सकता है वह सांसारिक भोग-विलासोंमें बहक सकता है। मनकी इसी चंचल वृत्तिको लक्ष्य करके अर्जुनने कृष्णसे कहा था —

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तुरसी भी मनके इसी दुर्गुण स्वभावकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं —

त्रिया वचन सुनि बहि चले ज्यौं बालककी प्रीति।

वे संसारके सभी कार्योंका कारण मन ही बताते हैं और शरीर तो उसके पीछे भटकनेवाला अनुचर है। अत: प्रत्येक प्रकारकी साधना मनकी ओरसे ही हो सकती है शरीरकी ओरसे नहीं। इसलिए तुरसी सर्व प्रकारके कायिक कष्ट उठाना तथा तपस्या करना बिना मनकी स्थिरताके व्यर्थ बताते हैं। वे कहते हैं —

तुरसो मन थिर भये बिन, कहा कसे होय काय ।

और मन जीते महाप्रभूको, दास होय तत्काळ ।

तुरसी मन जीते विना, जप तप सबै जजाळ ॥

मनको जीत लेनेपर उसको अनुरागी बनाकर परमात्माकी ओर ले जानेसे अनत आनदको प्राप्ति होती है । जब तक मन चचल रहता है, तब तक वह इधर उधर भटकता रहता है, सब प्रकारकी कामनाएँ उसमे प्रवेश करती हैं और वाणी भी अत्यत चपल रहती है, किंतु,

जब मनुआ उनमन मिला, तब बोला हू न सुहाय ।

यही अवस्था बढते-बढते उस रूपमे हो जाती है जब कि सपूर्ण सत्ता आनदमय हो जाती है जिसका वर्णन करते हुए तुरसी कहते हैं —

तनमें मन, मनमें, पवन पवनमे सुरति समाय ।

तुरसी तब आनद होय, वे आनद बिलाय ॥

इसी प्रकरणमे 'मन' शब्दका ध्वनेपात्मक विश्लेषण करते हुए तुरसी एक सत सुलभ अनोखी किंतु प्रतीतिगम्य सूझ अपने कथनसे प्रदर्शित करते हैं । तुरसी मनको चालीस सेरका सिद्ध करते है । मनके चालीस अग – पाच तत्त्व पच्चीस प्रकृतियाँ तथा नौ गुण ये सब मिलकर उनचालीस हुए, चालीसवी उसमे अतर्निहित ज्योति है ।

तुरसी गुन प्रकृति नवतीस, बरनि सुनाये बिबिधि कै

मन क्रम वचन सहीस, तामधि जोति चालीसई ॥

यह विश्लेषण मनोवैज्ञानिक न हो, किंतु इसका एक तात्पर्य है । मनके उनचालीस अग तो प्राय सासारिक विषयोसे रागात्मक सबध उत्पन्न करनेवाले हैं । अत अधिकाश भागके कारण मनकी प्रवृत्ति सासारिक आकर्षणकी ओर झुकी होती है और वह सहज चचल होता है किंतु उसके अतर्गत ज्योति ही एक ऐसी है जो उसे निरतर ऊर्ध्वगमनकी ओर प्रेरित किया करती है ।

दार्शनिक और धार्मिक विषयोपर तुरसीका ज्ञान गभीर था । अत वे प्रत्येक विषयपर पूर्णतया प्रकाश डालते हुए भी सक्षेपमे ही कहा करते है । मायासे उत्पन्न तुरसी तीन गुणोको बताते हैं – सत, रज और तम । मायाकी उत्पत्ति ब्रह्मसे नही है, फिर भी माया ब्रह्मका एक अश है जैसे छाया वृक्षका अश है । माया जड है और जडताकी ओर प्रवृत्तिको खीचती है । तीनो गुण भी जड हैं किंतु मायाकी ओर उनका स्वाभाविक आकर्षण हैं । माया तथा गुणोके सपर्कसे जीवकी उत्पत्ति है और उसमे ब्रह्मका अश आ जाता है ।

तुरसी चुम्बक जड़ लोह जड़ ऐसे ही जड़ गुण तीन ।
पारस परस संयोग ते चेतनताई कौन ॥

इस प्रकारकी चेतनता ब्रह्मकी ज्योतिके बिना सम्भव नहीं है, जैसे दर्पणमें सूर्यकी चमकके लिए सूर्यका होना आवश्यक है। दीपक जलता है तेल और बत्तीसे फिर भी उसका जलानेवाला (जोवनहार) आवश्यक है इसी प्रकार सबका निमित्त कारण ब्रह्म है। तुरसीका यह गुणोंका वर्णन गीताके आधारपर है। सात्त्विक गुण ऊपर उठानेवाला प्रकाशकारी राजसी गुण काम व लिप्साको उपजाने वाला तथा तामसी गुण अज्ञान व मोहको उपजानेवाला है —

सत गुण ग्रुध रज ते उदित तम ते महा अज्ञान ।

इसी प्रकार तुरसी कहते हैं —

रजपदई मृतलोक है तम पदई पाताल ।
सतगुण पदई स्वर्ग है तुरसी कहै बिचार ॥

रजोगुण और तमोगुणोंका आवरण रहनेसे सतोगुण लुप्त रहता है। सतोगुणकी उत्पत्तिसे परमात्माकी ओर प्रवृत्ति होती है किन्तु सतोगुणसे भी परे परमात्मा है। सतोगुणसे निबटना आसान नहीं वरन् इससे छूटना सबसे कठिन है। तुरसी कहते हैं —

सतगुणका छीतबेको नहीं जुगुति कोई आन ।
कै तुरसी निज भक्ति है कै तिहि केवल ज्ञान ॥

मुक्ति सतोगुणसे भी परेकी वस्तु है और सबको छोड़कर परमपद मिलता है §। भक्ति और ज्ञान ही मुक्तिके दाता है किन्तु भक्ति और ज्ञानका उदय होना आत्मज्ञानपर निर्भर है। राम सजीवनीको पहचाननेवाले सभी नहीं होते हैं और जो उसे नहीं जानते हैं उनके लिए वह व्यर्थ है। अपारिख्य (अपारखी) के प्रकरणमें तुरसी कहते हैं —

बन बिचरत बन चरनि गजमोती पावै ऐन ।
तुरसीकी मति बावरी गई जु गुंजा लेन ॥
तुरसी मोती पाये बिपतहर सब संपत्ति सुखदाय ।
भीलनि-निगुन किरातनी किन किन दिये बिकाय ॥

अपारखी तो ज्ञानको पूर्ण रूपसे खो देता है। जो पारखी है वह उसे ग्रहण करता है किन्तु फिर भी माया इतनी प्रबल है कि अपना प्रभाव डालती रहती है और सांसारिक झूठा आकर्षण बढ़ाती रहती है। अतएव प्रायः मनुष्य

---

§ सत रज तम तीनूं गुन परिहरि, चौथा चित-चित लावै ।
कहै तुरसी पूरनपद पैवै सुख महि आप समावै ॥

द्विविधामे पडा रहता है। इसमे पडा-पडा विनष्ट हुआ करता है। 'द्विविधा' के पाडित्यपूर्ण प्रकरणमे तुरसी इमी प्रवृत्तिका उद्घाटन करते है —

जो या दुविधामें धंसे, माया भजूं कि राम।
तुरसी ते अधविच रहे, सर्यो न एको काम॥

इम मायामय ससारमे जीवको सर्वत्र आकर्पण तथा सर्वत्र भय है जिसके भुलावेमे आकर वह झूठको सत्य ममझ सकता है, यथार्थमे सभी प्रकारके आकर्पण झूठे है, मन केवल द्विविधा या भ्रममे पडा हुआ उनमे भूला रहता है —

तुरसी ज्यो गच भवनमें, बोलत छांई सोय।

ममार एक शीशेके मदिरके समान है जिममे कि मनुष्यको अपनेपनका झूठा प्रतिविव चारो ओर दिखलायी दिया करता है और इस प्रकार जीव मायाके झूठे जालमे फँसा असत्य पथके पीछे अपनेको विनष्ट किया करता है। तुरसीने इमको वडी सुदरतासे व्यक्त किया है —

तुरसी मुकुर मिंदरमही, मृगपति कियो प्रवेश।
अपनी छांई देखि कै, करि-करि मुवो कलेस॥

इम प्रकारकी द्विविधा तो अपडितोकी द्विविधा है। पाडित्य और विद्वत्ता भी द्विविधाको दूर करनेमे समर्थ नही होते है। जो अनेक मत-मतातरोका पडित होता है उमका भी विवेक भिन्न-भिन्न मतोके कारण द्विविधामे पड जाता है जिससे कि सत्य पथ निर्धारित करना अतीव कठिन-सा हो जाता है, क्योकि किसीने कहा है

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो र्विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य मतिर्भिन्ना।

इसीलिए तुरसी 'हैरान' के प्रकरणमे कहते हैं —

तुरसी ब्रह्मा बिसुन महेस, सनकादिक सुरे पद्र अरु सेस।
तेऊ कहे ब्रह्मनिर्देस और वपुरेको कहां प्रवेस॥

वडे-वडे ज्ञानी भी ब्रह्मका स्थान नही वता पाये हैं, अत कुछ कहना कठिन है। फिर इस ससारमे हर्प और शोककी धाराओमे ज्ञानी और गुणी भी निमग्न हो जाते हैं, तव फिर साधारण जनोकी क्या गति है?

फिर भी ससारके मतभेदके वीच सबमे 'सत्य' का आधार है। यही सत्य ससारमे सव गुणो और ज्ञानका मूल है। किंतु जैसा कि रहीमने कहा है सत्यता और असत्यताका द्वद्व भी कम भ्रमात्मक नही, क्योकि —

अब रहीम मुश्किल पडी, गाढ़े दोऊ काम।
सांची कहौं तो जग बुरो, झूठे मिले न राम॥

अत 'सत्य' का ग्रहण करना भी आसान नही है। तुरसी 'सांच' के प्रकरणमे इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि सांचका कहना तलवारकी धारपर चलना है क्योकि सत्य कहनेवालेके ऊपर ससारका कोप रहता है —

तुरसी कहिबो साँचको कठिन खाँडेकी धार ।
साँच कहे जग ऊमरे झोप करे संसार ॥

फिर भी सत्यका ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। संपूर्ण मत-मतान्तरोंमें भी सत्य एक रूपसे विद्यमान है। तुरसीके मतमें चाहे जहाँ ढूँढिए चाहे वेद, चाहे पुराण किन्तु सत्यके समान संसारमें कोई वस्तु[1] नहीं। इस सत्यके लिए मानसिक पवित्रता परमावश्यक वस्तु है। बिना इसके सत्यका पहचानना बड़ा कठिन है। सत्यका पहचानना बिना समर्थ गुरुके[2] नहीं हो सकता है। सत्यकी खोज ही तो मानव-जीवनका चरम महत्त्व है। उस सत्यसे अपना संबंध स्थापित करना ही जीवनका साफल्य है। अपनेको सच्चा बनाना ही सर्वोच्च भाव है। साँच के प्रकरणमें इसी सत्यके बलपर निर्गुणका दिग्दर्शन कराते हुए तुरसी कहते हैं —

तुरसी यह साँच प्रकाशवत् चिद्घन आत्माराम ।
और चरचत् मिथ्या जगत् उपजिय पति की धाम ॥

सत्य ज्ञानसे प्रमुख चेतावनी के प्रकरणमें तुरसी जीवको एक ही रामसे स्नेह करनेके लिए कहते हैं। इस प्रकरणमें उनके कबीर, तुलसीदास तथा अन्य संतोंकी भाँति उपदेश भी हैं। समझानेके लिए वे कभी संसारकी क्षणभंगुरता दिखलाते हैं कभी मनुष्यके अंगगत रोगों व व्याधियोंका चित्रण करके उसके भौतिक मोहका विनाश करते हैं, कभी-कभी बंधु-बांधव तथा संबंधियोंके स्वार्थमय प्रेमकी ओर संकेत करते हैं और कभी-कभी सांसारिक जीवन तथा दैहिक सुखोंसे विराम उत्पन्न करानेके लिए देहकी भीतरी अशुचिता बीभत्सताके साथ वर्णन करते हैं जैसे कि —

हाड़-चाम दुर्गंध युत मल मूत्रकी जु खानि ।
तुरसी चुप सपनेहु नहीं या देही पति जानि ।

भौतिक सुखमें कभी-कभी वे बुढ़ापेके दुःखकी याद दिलाकर युवकको रामकी भक्तिका उपदेश देते हैं और कहते हैं कि जितने भी भोग हैं वे ऊपरी रूपमें तो भोग हैं किन्तु आन्तरिक रोग तथा पतनके कारण हैं —

तुरसीदास विष ऊपरै मिसरी लपटाई ।
ऐसे नाना भोग हैं परिहरि दे भाई ॥

---

(१) तुरसी भावै खोजो वेदमत भावै विविध पुरान ।
भावै मत नित मोक्षके पै नहीं कोउ साँच समान ॥

(२) तुरसी साँच सबन सूं न्यारा कहा राम कहा खुदा बाप ।
कहा हिन्दू कहा मुसल्मान बिन समरथ गुरु कोउ न पाव ॥

इनके 'भाई' शब्दमे उनकी मनुष्योंके प्रति आत्मीयता तथा मानव-कल्याणकी भावना ओतप्रोत है। तुरसी ससारभरके मित्र हैं। इस चेतावनीके प्रकरणमे तुरसीके उपदेशात्मक दोहे वडे मुदर है, अत उनमेसे कुछ नीचे दे देना अनुचित न होगा।

या छिन भगुर देहकी मत प्रतीति करो कोय।
वारूके मिंदर (मदिर) वलू, विनसत वार न होय।
गरब न करि या देहको, षेह होत नहीं बार।
तुरसी गरब गुमान तजि, राम सुमिरि एकतार॥

साँई सुमिरि अघाइ कँ, जब लग तरुनी देह।
तुरसी देह बल घटैगा, तब न होय पल नेह॥
होय आये आकासमें, बादल छिनक मंझार।
तुरसी छिनमें फटि गये, तैसो यह ससार॥

ऐसे से जानौ जु ए, भाई बन्धु पित माय।
ज्यूं सिल ता बिचि तिन मिले, कहूँ कहूंके आय॥
मे तै बादल होय रहा, रवि राम बिच सोय।
तुरसी ये परदा मिटे बिन, कैसे दरसन होय॥

करनी करता पाइये, विन करनी कछु नाँहि।
तुरसी करनी कीजिये, मन गहि तन ही माँहि॥

कही-कही तुरसीकी साखियोमे अवधीके मुहावरे पढकर गोस्वामी तुलसीदासकी अवधीकी स्मृति हो उठती हैं, जैसे कि —

तुरसी धँवाके से धौरहर, तन जन यौवन जोय।
काल सबूके जाँहिगे, दिस्टि न परि है सोय।

ठीक ऐसा ही 'धुआंके-से धौरहर' गोस्वामी तुलसीदासकी विनय-पत्रिकाके एक पदमे आया है — "धुआंके-से धौरहर देखि तून भूलरे"। वैसे भी तुरसीकी बानीमे कबीरका निर्गुणवाद व वैष्णव-भक्तिका कुछ सम्मिश्रण-सा ज्ञात पडता है। जहाँ एक ओर इनके उपदेश कबीरकी प्रणाली व निर्गुण पथपर आश्रित है, वही दूसरी ओर इन्होने परपरासे आयी हुई वैष्णव-भक्तिका आदर्श रखा हैं।

तुरसीके ग्रथोमे भारतीय ज्ञान और भक्तिके विवेचनका सपूर्ण सार मिलता है। इसमे तुरसीकी बहुज्ञता व अनुभव निहित है। उन्होंने ज्ञानका कोई अग नही छोडा है। दैहिक, दैविक, भौतिक तीन प्रकारके तापोका अलग-अलग विश्लेषण करते हुए तुरसी "ज्ञानकी सप्त भूमिकाओ" का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकरणोमे करते हैं। उनका कथन है कि इन भूमिकाओका ज्ञान सद्गुरुके वचन, शास्त्रोंके अध्ययन,

सत्संग तथा पूर्वजन्मोंके पुण्योंसे ही होता है। सप्त भूमिकाएँ ज्ञानकी ये हैं — (१) शुभ भूमिका, (२) सुविचारणा (३) तनुमानसा (४) सत्वापति (५) असंसक्ति (६) पदार्थाभाविनी (७) तुरजगा।

इन सप्त भूमिकाओंके द्वारा धीरे-धीरे आत्माका विकास होता है। पहली भूमिकासे सांसारिक भोगोंमें विरसता आती है। दूसरीसे वह ज्ञान प्राप्त करके शुभ-अशुभका विचार करने लगता है और क्षीर-नीरका-सा विवेक जाग्रत होता है। तीसरी तनुमानसा भूमिका वह है जिसमें मनुष्य अपनी जड़ प्रकृतिसे मुक्त हो जाता है और चिदाकार हो जाता है। चौथी भूमिकामें परमात्मासे एकाकार होनेकी भावना बढ़ती है —

सलिल समानै सिन्धुमें सिन्धु सलिल महिमान।

इसके पश्चात् पाँचवीं भूमिका असंसक्ति है। उसमें निर्विकल्प उदय होता है और मनकी वृत्तिका नाश हो जाता है। छठी भूमिका सुषुप्ति अवस्था है जिसमें सांसारिक ज्ञानका आभास ही नहीं रहता है और योगी सोया-सा जाता है। अंतिम व सप्तमी भूमिका तुरजगा या तुर्यक है। यह अंतिम समाधिकी अवस्था है। जब योगी या साधक अपनेको अमरज्योतिमें तल्लीन कर देता है और फिर संसारको नहीं लौटता —

तुरसी लखि अनहद्में समानी। ज्यूं सरिता सिन्धूको जू पानी॥

इस प्रकार ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका तुरसीने योगीकी सात अवस्थाओंके रूपमें वर्णन किया है जो कि जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय चार शास्त्रीय अवस्थाओंकी भाँति हैं। ये संसारसे उठाकर परमात्माकी ओर ले जाती हैं और अंतमें उसी अमरज्योतिसे मिला देती हैं।

इसी प्रकार अन्य अनेक प्रकरणोंमें तुरसीका ज्ञान स्पष्ट होता है और ज्ञात पड़ता है कि ये बहुश्रुत थे।

४

तुरसीके दार्शनिक विचार

तुरसीकी विचारधारा निर्गुणी सम्प्रदायके दार्शनिक विचारोसे ओत-प्रोत है। उसपर कबीर तथा अन्य सतोका गहरा प्रभाव है। आत्मा-परमात्मा-सबधी विचार तुरसीके कबीरसे ही मिलते-जुलते हैं। वे आत्माको परमात्माका अश मानते हैं और उसका परमात्मामे फिर मिलकर आनद स्वरूपके साथ एकाकार हो जाना भी उनके विचारमे सत्य है, यद्यपि इस विषयमे अतर प्राय सतोके विचारोमे भी रहता है। आत्मा-परमात्मा, ससार-परमात्मा और जीव तथा माया व प्रकृतिके सबधमे महात्माओ और दार्शनिकोका मत एक नही है। यहाँ तक कि विभिन्न धर्मोंमे परमात्मा भिन्न-भिन्न गुणोका प्रतीक है। ईसाई धर्ममे ईश्वर शुद्ध प्रेमका रूप है किंतु इस्लाम धर्ममे वह भयका ही प्रतीक है। § "परमात्माका प्रेम नही वरन् भय ही इस्लाम धर्मकी प्रेरणा है। सेमटिक लोगोके लिए प्रेम दूरकी वस्तु है, केवल भय ही उन्हें प्रभावित कर सकता है।" हिंदू धर्ममे वह किसी एक गुण-विशेषका नही, वरन् सब गुणोका भडार है। वह सर्वशक्तिमान, अजन्मा, अमर, दयालु आदि सब-कुछ है।

मुसलमान लोग एक परमात्माको मानते है किंतु उनका एक परमात्मा केवल उन्हीके लिए है, काफिरोके लिए नही। वह सर्वव्यापी नही है, किंतु निर्गुणियोका परमात्मा तो उससे भिन्न है। कबीर कहते हैं —

मुसल्मानका एक खुदाई। कबीरका स्वामी रहा समाई।

इस प्रकार निर्गुणियोका एकपरमात्मा-विषयक विचार मुस्लिम विचारसे अधिक उदार है। सगुणवादी वैष्णव उसको मानुषीय लीलाके अतर्गत आना भी सभव मानते हैं और उसके दर्शनकी—चतुर्भुज रूपकी—आकाक्षा रखते हैं, किंतु निर्गुणवादी इस प्रकारके रूपपर विश्वास नही रखते हैं। तुरसी परमात्माका प्रधान रूप निर्गुण मानते हैं और उनके विचारसे सगुण स्वरूपमे आना परमात्माके महत्त्वको छोटा कर देता है। अत तुरसी कहते हैं —

तुरसी निर्गुन ब्रह्म सूं, मो मन मानत सोय।
सरगुन सूं रुचि ना परै, कोटि करौ किन कोय॥

---

§ The fear rather than love of God is the spur of Islam Love is foreign to Semitic people, only fear could have impressed them" Stanely Lanepool quoted in Dictionary of Islam.

(From N S of Hindi Poetry)

वे उसके सगुण रूपको भी उसका एक अंश ही मानते हैं जो कि संसारके कण-कणमें व्याप्त है, किन्तु उसकी उपासनाकी आवश्यकता नहीं। निरगुनकी ही पूजासे उसीकी आराधनासे उसका सगुण स्वरूप भी संतुष्ट हो जाता है जैसे कि मूल सींचनेसे संपूर्ण पेड़ हराभरा होता है। वे कहते हैं —

> निरगुन सरगुन रूप है बरने वेदन माहि।
> तुरसी निरगुन मूल है सरगुन डारी आहि।।
> सबही तरवर तृप्ति होय करत मूल जल पोष।
> तुरसी यूँ निरगुन भजत सरगुन हूँ होय सन्तोष।।

तो तुरसी एक निर्गुन ब्रह्मको जो सर्वत्र व्याप्त है मानते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्म क्या है? यह प्रश्न निर्गुण और सगुण दोनों उपासकोंके मनमें उठ सकता है किन्तु इसके उत्तरमें सगुणवादी परमात्माके भिन्न-भिन्न अवतारों व स्वरूपोंकी ओर संकेत करके कहते हैं कि परमात्मा यह है। निर्गुणी कहते हैं कि वह यह नहीं है। वह सब-कुछ है फिर भी उसको किसी एक रूप या एक आकारमें सीमित नहीं कर सकते हैं अतः उसका वर्णन असंभव है। मनुष्य प्रायः चित्रोंके रूपमें सोचता है और जब विचार प्रकट करता है तब देखी-सुनी उपमाओंके रूपमें। परमात्मा-विषयक अनुभव या आनंद अपना कोई सादृश्य नहीं रखता। उसका कोई रूप नहीं अतः उसका वर्णन संभव नहीं। यही कारण है कि वेद और उपनिषद् उसको नेति-नेति (ऐसा नहीं) कहकर ही बताते हैं। कबीर भी इसी प्रकारकी कठिनाई पाकर कहते हैं —

> एक कहूँ तो है नहीं दोय कहूँ तो गारि।
> है जैसा तैसा रहै कहैं कबीर बिचारि।।

यह तो हुआ उसके स्वरूपके विषयमें। जीव और परमात्माके संबंधके विषयमें भी महात्माओं और दार्शनिकोंमें मतभेद है। कोई तो अद्वैतवाद को माननेवाले हैं। उनके विचारमें संसारमें ब्रह्म ही ब्रह्म है और कुछ नहीं है। इसी तत्त्व-दर्शनके फलस्वरूप भी शंकराचार्यजी ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या कहते हैं और मंसूर तथा अन्य सूफी अनल हक का दावा करते हैं। कबीर भी जीव और ब्रह्मको एक मानते हैं। जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं समझते हैं ‡। वे संसारमें ब्रह्म और ब्रह्ममें संसार माननेके साथ यह भी अवस्था वर्णन करते हैं जब जीवको परमात्मा-जैसी उपमा प्राप्त हो जाती है † और वह अपनी विशाल सत्ताका अनुभव करता है।

---

‡ खालिक खलक खलकमें खालिक सब घट रह्या समाई।

† हम सबमाँहि सकल हममाँही। हम थे और दूसरा नाँही।
तीन लोकमें हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा।
खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहिं अतीत रूप नहिं रेखा।
हमही आप कबीर कहावा। हमही आपन आप लखावा। (कबीर)

किंतु, यह तत्त्वदर्शनकी बात है। तुरसीको हम परमात्माके सान्निध्यका आनद-अनुभव करते पाते हैं, किंतु इस अवस्थामे नही कि जब वे जीवसे उठकर स्वय परमात्माकी शक्तिका अनुभव करने लगे। कबीरके अतिरिक्त दूसरे सत और दार्शनिक मानते है कि जीव व परमात्मा एक है किंतु माया उनसे एक भिन्न वस्तु है और मायामे लिप्त परमात्माका अश जीव हो जाता है। कुछ अन्य मानते हैं कि जीव मायामे छूटकर परमात्मामे मिलता अवश्य है, किंतु वह बिल्कुल एकाकार नही हो जाता है, वरन् फिर आवागमनमे आता रहता है। निर्गुण मतोमे भी परमात्मा, आत्मा और प्रकृतिके इस सबधके विषयमे मतभेद हैं। और इस विषयमे तीन समुदाय हो जाते है एक अद्वैती, दूसरे भेदाभेदी और तीसरे विशिष्टाद्वैती जैसा कि निम्न उद्धरणमे प्रकट है —

"हम निर्गुण पथमे कम-से-कम तीन प्रकारके दार्शनिक दृष्टिकोण स्पष्ट देख सकते हैं जिनको वेदाती भाषामे हम अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते है। जिसमेसे पहला दृष्टिकोण कबीरका स्वय है और जिसमे दादू, सुदरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूक सम्मिलित हैं। नानक और उनके अनुयायी दूसरी प्रवृत्तिके हैं। शिवदयाल मुख्यत विशिष्टाद्वैती हैं। अन्य सब जैसे प्राणनाथ, दो दरिया, दीन दरवेश, बुल्लेशाह इत्यादि सरलतापूवक दूसरोके साथकी अपेक्षा शिवदयालके साथ रखे जा सकते है।" *

इस प्रकारका दृष्टिकोण दर्शककी सूक्ष्मतापर निर्भर है। जो जितना ही विशुद्ध है वह परमात्माके समीप उतना ही अधिक है और अतिम अवस्था वह है कि जब उनमे कोई भेद नही रह जाता है। भगवान कृष्ण, शकराचार्य, कबीर, मसूर, रामतीर्थ इसी कोटिके ज्ञानी साधको व योगियोमेसे थे। इस प्रकार अवतारवाद भी दूसरा अर्थ ग्रहण कर सकता है। जिसकी इतनी ऊँची दृष्टि हो जाए वही अवतार स्वरूप है।

---

* "We can distinctly see at least three trends of philosophical outlook in the Niraguna school, which to use Vedantic terminology we may call Adweta, Bhedabheda and Visishtadweta The first trend is headed by Kabir himself and includes Dadu, Sundardas, Jagjiwandas, Bhika and Maluka Nanak and his followers belong to the second of trends Sibdayal is essentially a Visishtadweti. All others like Prannath, the two Dariyas, Din Darvesh, Bullesah etc can more Comfortably be placed with Sibdayal than with others "

[The N S of Hindi Poetry p 32 last para].

ईश्वर और जीव

तुलसीदास भी सिद्धांततः अद्वैतवादी हैं। वे शंकरके अनुसार ही परमात्मा जीव और मायाको मानते हैं। जीव मुक्त होनेपर परमात्माके स्वरूपमें मिलकर एकाकार हो जाता है। परमात्मा एक है और वह सर्वव्यापी है। जैसे कि एक सूर्यका प्रतिबिंब अनेक बरतनोंमें भिन्न-भिन्न पड़ता है उसी प्रकार परमात्माका आभास भी जीव-जीवमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुआ करता है। वह अनेक जीवोंके अंतर्गत मालाके धागेके समान व्याप्त है[1]। वह उनसे अलग है फिर भी प्रत्येक जीवमें उसीकी सत्ता है जैसे कि तिलमें तेल या पुष्पमें सुगंधि —

तुलसी ज्यूं पुहुपनमें सुवासना तिलमें तेल समाति।
ऐसे नर सब तन महीं व्यापक आत्मा जानि॥

जीव परमात्माका एक अंश है और तुलसीके मतमें वह भेद[2] इतना ही है कि परमात्मा प्रकृति अथवा मायासे परे है किंतु जीव प्रकृति या मायामें लिप्त है। परमात्मा स्वयं त्रिगुणी गुण या मायामें लिप्त नहीं है। माया परमात्माकी छायाके भाँति है। ब्रह्म इच्छारहित है। उसपर किसी प्रकारकी इच्छाका आरोप नहीं किया जा सकता। फिर प्रश्न यह उठता है कि इच्छारहित ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्नको तुलसीने ब्रह्मकी लीला बताकर एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। ब्रह्म वृक्षकी भाँति है। वृक्षके इच्छा नहीं होती फिर भी बीज जब भूमिपर गिरता है तब वह उग आता है। इसी प्रकार माया और पुरुषसे जीव उत्पन्न होते हैं। प्रकृति पुरुष के प्रकरणमें तुलसी कहते हैं —

तरिवर कै इछा नहीं बीज परयो भैं भौर।
तुलसी जमि जड़ै जु करि, होइ तरवर इक ठौर।

परमात्मा मायासे उत्पन्न सत रज तम तीन गुणोंसे सृष्टिका पालन उत्पत्ति और संहार करता है[3] किंतु यह करता हुआ भी वह इन सब गुणोंसे अलिप्त रहता है। जीव भी इन्हीं गुणोंसे सृष्टिका पालन उत्पत्ति व संहार करता है किंतु जीव इन गुणोंमें फँस जाता है। वह इनके वशमें हो जाता है।

---

१ सब घट आतम एक है भिन्न-भिन्न भासंत।
तुलसी धागा एक है मनिगन मनहु अनंत॥

२ आतम प्रमातमको मतनोई भेद विचार।
प्रमातम प्रकृति परे, आतम प्रकृति मँझार।
(आत्मा प्रमात्मा प्रकरण)

३ रज गुन करि उतपति उपावै। सतगुन करि पोषै प्रतिपावै।
तुलसी तमगुन करि संघार। आपन रहै तिहूं सो न्यार॥
(ब्रह्मशाखी मूल प्रकरणसे)

परमात्मा अवध है, आत्मा प्रकृतिके वधनोमे है। जीव चल है वह इद्रियोंके द्वारा नाना प्रकारके कार्योंमे फँसता है[1] जिसके फलानुसार उसे स्वर्ग या नरक मिलता है। परमात्मा सदैव एकरस रहता है। अत जब तक जीव इन भोगोमे फँसा है वह परमात्मासे भिन्न है और उसे कर्मानुसार सुख दुख मिलता रहेगा।

जीव सीव भिन्न है, समिलित करे न जाँहि।
तुरसी जावत कर्मका, है परदा कछु माँहि।

जीवमे अवध (परमात्मा) का अश कम है और वध (माया) का अश विशेष है, अत उसका आकर्षण मायाकी ओर हुआ करता है। वह स्वभावत निर्लिप्त है किंतु गुणोंके समर्गसे बँध जाता है —

तुरसी जीव सुध है सदाही। कछु वै लेप न लागै ताही।
छिनक गुनसंग करत सुभाय। सुक नलिनी लौं वंध होय जाय।

माया

तुरसी मायाको अनादि मानते हैं। वह अपने सहज स्वभावसे ही जगतको उत्पन्न करती है।[2] अनादि ब्रह्म और अनादि मायाके सपर्कसे ही जीवकी उत्पत्ति होती है। ब्रह्मसे उत्पन्न न होनेपर भी माया ब्रह्मका एक अश ही है जैसे कि छाया वृक्षका अश है। तुरसी कहते हैं —

ज्यूं जु वृक्ष ब्रह्म है त्यूं छाया ज्यूं माया जानि।
वृक्ष छाया सिरजी नहीं, यूं ब्रह्म माया मानि॥

जीवकी उत्पत्ति मायासे हुई है, फिर भी तुरसी उसे विचित्र बताते हैं— "तुरसी जीव उपज्या नही, तदपि उपज्या जानि"। जैसे सूर्यकी किरण पाकर आतशी शीशा आग उगलता है[3] उसी प्रकार पुरुषके सपर्कसे जीवकी उत्पत्ति होती है। फिर भी इस मायाका पाश जीवपर प्रबल रहता है और वह उसमे अनुलिप्त होकर ब्रह्मको भूल जाता है —

हूं औरै औरै जु यह समुझत नाही जीव।
माटी कूं अपनाय कै, मूढ विसारत पीव॥

इसी विस्मृतिकी अवस्थामे वह मायाको सब-कुछ समझने लगता है।

---

१ आतम इन्द्रीरसनको, बुद्धिद्वार ले स्वाद।
तुरसी तातै वँध भया, नही तौ हुता अवाध।

२ अनादि माया ब्रह्मकी, अपनै सहज सुभाय।
उपजावै समार कूं, पुरुष सपरक पाय॥

३ प्रकृति अधा आरसी, अवगति अरक अखड।
अगिनि स्वरूपी जीव है, तुरसी महा प्रचड॥

इसी माया अथवा प्रकृतिसे अलग होना ही जीवकी मुक्ति है किन्तु माया बड़ी प्रबल है। इसमें देवता मुनि मनुष्य और राक्षस सब भ्रममें पड़ जाते हैं चंचल मन मायामें फँसकर आत्मपतनकी ओर उन्मुख होता है। अज्ञानी मनुष्य मायाके इस विषम व्यापारको नहीं देख पाता और भ्रममें पड़ा रहता है। इसके रामसें लौ लगानेवाले संतजन ही देख पाते हैं —

> माया बेल अगाध है लग्यो न कर्हूं काम।
> तुलसी सबई संतजन जे रहे राम लौ लाय।

माया मृगमरीचिकाके समान है। इसके सुखोंके पीछे व्यक्ति इसी प्रकार भटका करता है जैसे कि हिरन मरुस्थलमें पानीके आभासके पीछे।

> रविकी ज्वाला देखिकरि मृगजल करि धावंत।
> तुलसी प्यास मिटै नहीं भ्रमि भ्रमि तन दाहंत॥

मायासे उत्पन्न सुखोंका भी यही हाल है। वे सब झूठे हैं और उनके पीछे पड़नेपर मनुष्यको कभी भी संतोष तृप्ति अथवा शांति नहीं मिल सकती है। माया अपने तीन गुण सत रज और तमके प्रभावसे जीवकी अन्तर्दृष्टिपर परदा डाले रहती है। संसार-सम्बन्धी विविध आकांक्षाओंको लेकर मनुष्य भिन्न-भिन्न देवी-देवताओंकी पूजा किया करता है और यहाँ तक कि सर्वोपरि परमात्माको भूल जाता। है यह सब मायाका ही प्रभाव है।

मायाके दो स्वरूप

मायाके दो स्वरूप हैं एक कनक और दूसरा कामिनी। अन्य संतोंकी भाँति तुलसीने भी इन दोनों स्वरूपोंकी निंदा की है। साधनाकी दृष्टिमें रखते हुए सभी संतोंने नारीके कामिनी स्वरूपकी निंदा की है। पारलौकिक दृष्टिसे उसका यह स्वरूप पतनकी ओर ले जानेवाला ही संतोंके द्वारा निर्धारित किया गया है। कबीर नारीके इसी स्वरूपके विषयमें कहते हैं —

> नारीकी झाँई परत अंधा होत भुजंग।
> कबिरा तिनकी कौन गति नित नारीको संग।

इस प्रकारकी निंदाका सीधा अर्थ यही है कि नारीमें पुरुषके लिए सबसे अधिक आकर्षण है और उसके वशमें होकर वह सब कुछ भूल सकता है। अतः प्रवृत्तिका कार्य-संपादन करनेके लिए संसारकी ओर पुरुषकी आसक्तिको केंद्रीभूत करनेमें नारीका कामिनी-स्वरूप साधकोंके लिए निंदाका विषय हो जाता है। इस स्वरूपके प्रति इसी प्रकारके विचार भारतीय संतोंके ही नहीं वरन् पाश्चात्य विद्वानोंके भी हैं। बर्नार्ड शा अपने मैन ऐण्ड सुपरमैन में कहते हैं —

" स्त्रियाँ, मनुष्यपर शिकार करती हुई शेरनीकी भाँति हैं और वह प्रकृतिकी उद्देश्य-पूर्तिके हेतु । अपनी उद्देश्य-पूर्तिके हेतु वह मनुष्यसे उसीके नाशका विचार करवाती है, और उसका उद्देश्य न तो उसका ही आनद है और न तुम्हारा, किंतु प्रकृतिका है । स्त्रीमें सृष्टि उत्पत्तिका अधा आवेश है जिसके लिए वह अपनेको वलिदान कर देती है । क्या आप समझते हैं कि वह आपको भी वलिदान कर देनेमे सकोच करेगी ? "†

यह बात सासारिक उद्देश्य रखनेवाले व्यक्तियोके सबधमे कही जा सकती है । तब पारमार्थिक उद्देश्य रखनेवाले सतोको कामिनी स्वरूपपर कटु वाक्य कहना स्वाभाविक ही है । अत तुरसी भी मायाके प्रथम स्वरूप कामिनीकी निंदा तीखे शब्दोमे करते हैं —

वाघिन मा ीयारे, साधो सब जग धाय ।
कोउ कोउ जन उबर्‌या, जो सुमर्‌या रघुराय ।

पुन एक पदमे तुरसी मायाके कामिनी-स्वरूपका चित्रण करते और साधको को उपदेश देते हैं —

नारी नैन न देषिये, सुनिये न मन भाई ।
तन मन चोरै देषता, ठगिनी ठगि जाई ।
नैन बैन करि वसि करै, रचि वेष वनावै ।
षट दरसन जोगी जती, सबकूं मुसिषावै ।
सेवक होय सेवा करै, मोहै अति भारी ।
कण ले कूकस परिहरै ऐसी है नारी ।
जो नर चालै रूसि कै फिरि ताहि मनावै ।
जान कोउ पावै नहीं, अपने बसि लावै ।
कोउ कोउ जन उबरीया जिन हरि रस पीया ।
और जीव छलि वाघनी चुनि चुनि सब लीया ।
याका संग मारग तजो, गुरु ग्यान विचारो ।
जन तुरसी तन मन सौंपि कै, निज नांव संभारौ ॥

---

† " Women are like lioness praying upon mankind, and that for fulfilling the purpose of Nature, She makes man will his own destruction to fulfil her purpose, and that purpose is neither her happiness nor yours, but Nature's Vitality in a woman is a blind fury of creation She sacrifices herself to it, do you think she will hesitate to sacrifice you ?"

[G Bernard Shaw in Man and Superman]

किन्तु यह उपदेश साधकोंके लिए है। बिना इस प्रकारकी भावनाके उनका संसारसे विराग नहीं हो सकता है। यथार्थमें नारीका कामिनी स्वरूप मनुष्यके राजसी गुणोंसे मिलकर ही अंजनका कारण है अन्यथा प्रकृति स्वभावसे व्यभिचारिणी नहीं है जब वह मनुष्यकी पाशविक भावनाओंके संपर्कमें आती है तभी वह व्यभिचारिणी होती है। अपने कामिनी स्वरूपको छोड़कर नारी देवी है और वह स्वयं भी पुरुषकी भाँति मोक्षकी अधिकारिणी है। उसका प्रश्न पुरुषके समानान्तर ही है। वानप्रस्थ अवस्थाका भी प्राचीन कालमें ध्येय यही था और इस प्रश्नपर मुगल राजकुमार दाराने भी बड़ा विचार किया था। उसके सम्मुख दो प्रश्न थे। हिंदु-मुस्लिम ऐक्य और स्त्री-जातिका परमार्थ पथकी संगिनी बनाना। और इसके लिए मुगल राजमहलोंमें बड़े-बड़े विद्वान् वेदान्ती साधु, सूफी आदि आकर वादविवाद किया करते थे। प्रो क्षितिमोहन सेन अपनी 'मिडीवल मिस्टीसिज्म ऑफ इंडिया'मे लिखते हैं —

यह नहीं सोचना चाहिए कि हिंदु-मुस्लिम साधनाका अंतर ही एक समस्या थी कि जिसमे दाराका ध्यान फँसा हुआ था। वह इसके अतिरिक्त यह भी सोचता था कि स्त्री और पुरुष एक दूसरेके लिए बाधा हुए बिना किस प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति और साधनाके पथपर सहयोगी हो सकते हैं। योग्य साधकों (सूफी और संन्यासियों) के समुदायों और संस्कृत हिंदी अरबी व फारसीके विद्वानोंमें जो दिल्लीके मुगल राजमहलोंमें दाराके समीप एकत्रित होते थे अन्य बातोंके अतिरिक्त वेदान्तकी तथा यूनानी दार्शनिक बातोंपर विचार करते थे कुछ स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं। §

उन साधकोंमेंसे सरलदास भी थे। वे स्त्रियोंके प्रति उदार भावना रखते थे और उन्होंने दयाबाई और सहजोबाईको भी परमात्म पथकी शिक्षा दी थी।

---

§ It should not however be imagined that the difference between the Hindu and Mohammedan Sadhana was the only problem that engaged the attention of Dara He was thinking besides how men and women, instead of being a hindrance to each other might be co-workers in the acquisition of knowledge as well as in the path of Sadhana The very brilliant group of Sadhakas (Sufis and Sanyasis) Scholars in Sanskrit, Hindi, Arabic and Persian, which met around Dara in Moghul palace of Delhi and discussed among other things obtruse subjects like the Vedant and the Greek philosophy included some ladies

[Medieval Mysticism of India p 142, by K. M Sen]

सहजो भी उच्च साधकोमे थी और उनकी रचनाका हिंदी साहित्यमे स्थान है। उन्होंने दोहे लिखे हैं। सहजो स्वयं कहती है —

निस्चै यह मन डूबता, मोह लोभकी धार।
चरनदास सतगुरु मिले सहजो लई उबार॥

अतः यह बात नही कि संत व साधक स्त्री-जातिकी निंदा करते हो। कामिनी-स्वरूपको छोडकर स्त्री-जाति अन्य स्वरूपोमे पूज्य थी। कबीरकी स्वयं कुछ स्त्री शिष्याएँ थी। गंगाबाई और उनकी पुत्री कमाली दोनो परमार्थ पथकी साधिकाएँ थीं। कबीरपंथी संत दादूकी भी नानीबाई और माताबाई दो पुत्रियाँ साधिकाएँ थी। मीराबाईको तो सभी जानते है। वे भी विख्यात संत रैदासकी शिष्या थी। ऐसा कहा जाता है वे सारे संसारको स्त्रीरूप ही देखती थीं और "संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोना" उनकी साधनाका एक पथ था। पर स्त्रीका लोक-सबधी स्वरूप ही कामिनी है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संत जिस रूपका विरोध करते हैं वह नारीका कामिनी स्वरूप है, जो कि मायाका अंग है और पुरुषको मोह बंधनमे बाँधता है। अन्यथा स्त्री देवी है और पुरुषकी सर्वदा संगिनी है। पार्वतीजी योगीराज शंकरकी चिरसंगिनी मानी गयी है, वे जगदंबा हैं।

मायाका दूसरा स्वरूप 'कनक' है। इसका भी आकर्षण व प्रलोभन अटूट है। संत लोग इसके भी विरोधी हैं। लक्ष्मीके पीछे पागल रहनेवाले लोगोसे तुरसी कहते है कि इसके पीछे पागल होना व्यर्थ है। मायासे उद्भूत ऐश्वर्यमे सुख लेशमात्र भी नहीं है। अतमे लखपति व करोडपति भी हाथ झुलाते जाते हैं, किंतु अपने ऐश्वर्यके प्रमादमे जीवनभर परमात्माको भूले रहते हैं। सासारिक ऐश्वर्य हृदयको संतोष कभी नही दे सकता है। वह तो मृगतृष्णाके समान है —

मन रे मति भूलहि या माँही, या मैं तो सुख लेसहु नाँही।
यह हितकरि जिन जिन जोरी, लै गाडी लाख करोरी।
अरबहु खरबहु साथा, ते गये झुलावत हाथा॥

इस ऐश्वर्यका वर्णन करके इसमे अनुलिप्त होनेका दुःखात्मक परिणाम तुरसी भी बताते हैं —

जिनकै अस (अश्व) गज बहुतेरा। गढ गूढर गाँव घनेरा।
बहु पायक बहु त्रिय संगा। ते सै मडे च ो रे दगा।

अतः इस मायाके संबंधसे छूटना ही जीवका उद्देश्य है और इसी हेतु साधकोका प्रयत्न है। तुरसी माया और परमात्मा दोके बीचमे एक ही की

नामस्मरणका उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि दो नावोंपर बैठकर कोई पार नहीं पहुँच सकता है। अतः एक ही और सच्चे रास्तेपर ले जानेवाली नावका ग्रहण करना चाहिए। तुलसी आत्माके अस्तित्वका मायाके अंश देहसे अलगत्व स्पष्ट करके समझाते हैं —

> तू और और यह देह। तासूँ क्योंकी करत सनेह।
> तू हंसा अवगतिको अंसा। सोधि लेय निज अपनो बंसा।
> मन चित थिर करि सुन भाय। ज्यूँ तेरो आवागमन नसाय।
> जन तुलसी यह समुझि सुज्ञान। धीर धीर होय निश्चि करि जान।

ज्ञान

इस प्रकारका दृष्टिकोण तभी बनता है जब ज्ञानका विकास हो जाता है। संपूर्ण शास्त्र यह कहते हैं कि बिना सत्य ज्ञानके मोक्ष नहीं। ज्ञान ही मुक्तिका साधन है। भक्ति तो उसके पश्चात्की साधना है। ज्ञानीके अंतर्गत संसार समाज परिवारके बंधन सब नष्ट हो जाते हैं। कबीर कहते हैं कि यह संसार इन्हीं बंधनोंसे बँधा है और इन्हींसे मुक्त होना ही भक्तका काम है —

> मोर तोरकी जेवरी बँटि बाँधा संसार।
> एक ज्ञानी ही अनबँधा जाके नाम अधार॥

तुलसीके विचारसे भी ज्ञानी और अज्ञानीमें बड़ा अंतर रहता है। ज्ञानीको छोड़कर अन्य सब इसी सांसारिक बंधनसे जकड़े रहते हैं और उनसे स्वतंत्र होना ही मोक्ष है। ज्ञानी संसारसे भिन्न अस्तित्व रखता है। तुलसी कहते हैं —

> तुलसी ज्यूँ जल नीरमें मुकुर मधि मुख जाय।
> त्यूँ ज्ञानी या देहमें अलग माजको आहि॥

ज्ञानीकी साधना एक अखंड ज्योति जलाना है। वह अपने मनके पात्रमें अपनी ज्ञानवाणीकी वायुसे तद् ज्योतिके प्रकाशसे हृदयमें अखंड उजाला करता है —

> तुलसी मन भाजन महीं ज्ञानी पवन समोय।
> तद् ज्योति रस सींचिये तौ अखंड उजारो होय।

सूक्ष्ममार्ग

इस प्रकारकी साधनामें वह मायासे दूर हटा जाता है और परमात्माके निकट पहुँचता जाता है। इस निर्दिष्टका मार्ग सूक्ष्म है और यही सूक्ष्ममार्ग ही निर्गुणियोंका उलटा मार्ग या चमत्कार है। यह ऊर्ध्वगमनका मार्ग है। जन्मके पश्चात्से हमारा परिश्रम संसारसे बढ़ता जाता है और परमात्मासे संबंध

दूर होता जाता है। यह परमात्मा अथवा स्वर्गीय आभाकी विस्मृति और ससारसे सपर्क विकास-ससारका मार्ग है। और स्मृति या सुरतिके सहारे उस स्वर्गीय आभाकी ओर अग्रसर होना यही 'उल्टा पथ' है। 'वर्डस्वर्थ' अपने 'ओड टु इम्मारटैलटी (अमरत्वका गीत) मे इसी स्वर्गीय आभाकी ओर सकेत करते हैं। बचपनमे हमे उसकी स्मृति हरी रहती है जिसके लिए ही वे कहते हैं —

> There was a time when meadow, groves and streams
> The earth and every common sight to me did seem
> Apparelled in celestial light,
> The beauty and the freshness of a dream
>
> [Ode to Immortality—Wordsworth]

इस स्वर्गीय आभा और सौंदर्यका परिवेष्ठन सहज दृष्टिकोणके कारण होता है जिसको कि ज्ञानी अपनी साधना द्वारा 'सुरति' जाग्रत करके प्राप्त करता है। यो तो 'सुरति' धीरे-धीरे ससारके सपर्कमे आनेसे कम होती जाती है, किंतु ज्ञानी इसको साधना-द्वारा जाग्रत रखता है। हठयोगके अनुसार योगी षट्चक्रो-द्वारा कुण्डलिनीको जगाता है और उसका अधोमुख ऊर्ध्व करके उसकी गति परिवर्तित कर देता है। फिर वह सुषुम्नाके मार्गसे छहो चक्रोसे होकर ऊपर जाती है और योगी ब्रह्माडमे स्थित चद्रसे स्रवित अमृतका पान करता है। यही सुरति-द्वारा शून्य, गगनमडल अथवा ब्रह्माड तक मनका जाना ही उलटा मार्ग है। सुरतिके पश्चात् अनहद नाद सुन पडता है। यह परमात्माके सान्निध्यका लक्षण है। यह साधककी अजपा जापकी दशा होती है जबकि प्रत्येक श्वास-निश्वासमे सुमिरण चालू रहता है। इसके अतमे समाधिस्थ अवस्थामे वह परमात्मासे एकाकार-सा हो जाता है।

यह आत्माका परमात्मासे मिलनेका मार्ग 'सूक्ष्म मार्ग' है। यह बडा अटपटा है। इस मार्गपर चलना ऐसा ही है जैसा कि पक्षीका आकाशमे उडना। इसपर चलनेवालोंके पद-चिह्नोका पता भी नही लग सकता है।

तुरसी मारग पीवको, ज्यूं पछी आकास।
खुर खोज पइये नहीं, महा अगहन गतितास॥

(सूक्ष्म मारिग कौ परिकरन)

इस सूक्ष्म मार्गपर चलनेके लिए आत्माको भी सूक्ष्मता धारण करनी पडती है। तुरसीका मत है कि इसपर चलते-चलते साधकको तम, रज और सत आदि तीन गुण, तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश आदि पाँचो तत्वोको छोडना

पड़ता है। वह इतना सूक्ष्म है कि इन गुणोंका उसके अंतर्गत प्रवेश नहीं । उसमें सूक्ष्म आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं जा सकता। इस रास्तेका पाना बड़ा कठिन है। तुरसी कहते हैं —

> **जोगी जती तपसी पीर औलिया वेद।**
> **तुरसी मग (मग) पावै नहीं जाके करत निषेद ॥**

यही नहीं इस मिरिस्टका यही एक उल्टा रास्ता है। सीधी राहमें जाने वालोंका तुरसी कहते हैं कि वे विषयोंकी नदीमें डूब जाते हैं[१] और पार तक नहीं जा पाते। इस मार्गपर चलनेके साधन भी दुर्लभ हैं सुगम नहीं। गुरुजाने इस मार्गको तथा इस मार्गपर चलनेके साधनोंको बताया है किन्तु वे सब कठिन हैं। तुरसी कहते हैं —

> **दुर्लभ चाल कबीरकी दुर्लभ गोरख ग्यान।**
> **दुर्लभ रहनी दत्तकी दुर्लभ पद निर्वान ॥**
> **दुर्लभ पावन गुरु सबद, दुर्लभ हरिको काम।**
> **दुर्लभ मनकी जीतिबो दुर्लभ मिलिबो राम।**

इस सूक्ष्म मार्गपर चलनेमें साधकको अपनी इन्द्रियोंकी शक्तिको बहिर्मुखीके स्थानपर अंतर्मुखी करना पड़ता है। उसकी वाकशक्ति मौन होकर अंतरध्यानमें उतर होती है चक्षुओंकी शक्ति अपनी पलके मूँदे ही अभिनव दृश्योंकी झांकी देखती रहती है कर्ण भी सांसारिक ध्वनियोंकी ओर मुँह फेरे अंतर्निनादित मधुर संगीतको सुनते हैं। इन सब शक्तियोंका अन्तर्मुखी करना ही एक साधन है जिसकी ओर संकेत करते हुए तुरसी कहते हैं —

> **अतर न कोई करि सकै पल भरि तहाँ प्रवेस।**
> **तुरसी दूँमे बावरे, तिनका है वह देस ॥**

सांसारिक अनुराग वहाँ काम नहीं देती। बल्कि लिए शुद्धता और आन्तरिक पवित्रता ही सबसे बड़ा आधार गुण है और सत्यता ही सर्वश्रेष्ठ अनुराग है। बिना इन गुणोंके उस मार्गमें प्रवेश नहीं। मन अपनी कामनाओं और वासनाओंका

---

१ पाँव न टिकही पंथके पहुँच न सकही तीन।
तुरसी नान्य पीव को औगड़ ते भनि तीन ॥

२ तुरसी मन उतरन पंथ सूधा पग नाही।
सूधा चले सु मरि चले बिपीया नदि माही ॥

(सूक्ष्ममार्गके प्रकरणसे)

लदाव लादे उस सूक्ष्म मार्गसे प्रवेश नही कर सकता। मनकी चचल प्रवृत्ति, कि जिसमे वह क्षणमे ही राजा बनता है, क्षणमे ही रक, कभी देवताकी भाँति आचरण करता है और कभी पापी चाडाल बनता है, उस सूक्ष्म मार्गके प्रवेशमे भारी रुकावट है। अत मनका कामनाजन्य स्वरूप घडी-घडी जन्म और घडी-घडी मरन जो कि उसमे बहुरागिताका कलुष लगाता है सबसे पहले अनुरागकी सरितामे घुलकर उज्ज्वल होना आवश्यक है। तुरसीके शब्दोमे मन अपना सब कुछ खोकर अपनी सत्ताको शून्य करके ही उस मार्गमे पहुँच सकता है —

जहाँ न चद नहि उठै सूर, अखड अनाहद बाजै तूर।
तुरसी जग मग ज्योति प्रकास, तहाँ "नाँही" होय पहुँचे निजदास॥

मुक्ति

इस मार्गपर चलता हुआ मनुष्य धीरे-धीरे सूक्ष्मता प्राप्त करता जाता है। ससार और मायाके बधनोंसे दूर होता और परमात्माका नाम जपते-जपते उसके सामीप्यमे जाता हुआ अन्तमे उसीमे मिल जाता है। ऐसी अवस्थामे सर्वत्र वही वह दिखलायी देता है। कबीर इसी अवस्थाका वर्णन करते हुए कहते हैं —

तूँ तूँ कहता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
बारी फेरी, बलि गयी, जित देखूँ तित तूँ।

तुरसीदास इसी लवलीनताको एक और उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं। भृग कीडेको अपने आकारका बना देता है। आत्मा भी परमात्माको जपते-जपते उसीमे निमग्न हो गयी —

जन तुरसी भृग कीटकी नाईं, ह्वै रह्यौ लीन परमपद माँही।

इस मुक्ति-मार्गमे चलनेपर साधककी आत्मा भी सूक्ष्म होती जाती है। प्रारभमे भजन और सुमिरनद्वारा ज्यो-ज्यो वह मायासे दूर हटता जाता है वह सूक्ष्मताको प्राप्त करता जाता है। इस अवस्थामे वह दिव्य शरीर धारण कर चाहे जहाँ विचर सकता है। तुरसी इसी अवस्थाको प्राप्न 'भजनानदी' साधुका वर्णन करते हुए कहते है —

लोक लोकन्तर गवन कराहीं, कहूँ तिन्हे अटकाव जु नाँहीं।
तुरसी अपनी अछ्या सोय, बिचरै अह-ममत-मल धोय।

इस प्रकारके लोग सूक्ष्म मार्गपर जाते है कि जो बिल्कुल "नही" हो गये हैं। इसके पश्चात् तल्लीनताकी अवस्था आती है वह और भी सूक्ष्म है। साधु अपनी सत्ता नितात भूलता जाता है और परमात्माके साथ मिलता जाता है।

इस प्रकारके ज्ञानी ब्रह्मानंदी साधु होते हैं। वे मुक्त हैं, वे ब्रह्ममें एकाकार हो गये हैं। उन मुक्तोंके लिए तुरसी कहते हैं —

तुरसी जाग्रत स्वप्न स्वप्न सुषोपती ता आगे आराम।
ततत्वं पद मिल एक हुवा रहे नहीं है नाम॥

मुक्त

यही तत्त्वं पद ही मुक्तिकी अवस्था है। इसके पश्चात् फिर आत्मा परमात्मासे अलग नहीं होती। उस अवस्थामें सब द्वैत भाव जाता है और ध्याता और ध्येय एक हो जाता है —

तुरसी ध्याता ध्यायका मिटि गयो सकल विभेद।
उसै एक ही ह्वै रहे करि द्वैतको जु छेद॥

अतः निरंजनी संप्रदायके प्रमुख व्याख्याता तुरसीदास निरंजनीका मत कबीर आदि निर्गुणोपासकोंके मतसे बहुत अधिक साम्य रखता है अंतर केवल अपनी-अपनी अनुभूतिकी विशिष्टताका है।

५ :

तुरसीकी साधना

साधनाका पथ नितान्त सूक्ष्म है। जितना सूक्ष्म उतना ही विषम व विकराल है। उस पथमे जानेके लिए पथी सूक्ष्म होकर ही प्रवेश कर सकता है। अपनेको मिटाकर ही साधक सिद्धावस्थाकी अनुभूतिका भागी बन सकता है। अपनत्वके नाश करनेपर अथवा कबीरके शब्दोमे शीश देकर ही इस राहमे प्रवेश सम्भव है —

सीस उतारै भुंइ धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥

अत प्रश्न यह है कि इस अपनत्वका त्याग और सूक्ष्मताका ग्रहण कैसे हो सकता है ? वह आत्मशुद्धिके द्वारा ही सभव है। आसन, प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओकी सहायतासे आध्यात्मिक तत्त्वका अन्वेषी अथवा विश्वात्माका भक्त आत्मशुद्धि करता है किंतु ये क्रियाएँ करने और ईश्वरपर अटल विश्वास प्राप्तिके लिए सिद्धहस्त पथप्रदर्शककी आवश्यकता बहुत बडी है। इसलिए साधनाके पथमे गुरुकी विशेष महत्ता है। इसी प्राथमिक महत्त्वके कारण ही कबीर गुरुको गोविंदसे भी बढकर बताते हैं।

गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दिया बताय ॥

गुरु

गुरुका इतना महत्त्व इसीलिए है कि गुरु परमात्म-पथका प्रदर्शन करता है। उसकी राह देखी है और वह भूलनेपर रास्ता दिखा देता है। "हरि रूसे गुरु ठौर है, गुरु रूसे नहिं ठौर।" यहाँ तक कि साधककी सिद्धिकी कोटि प्राय गुरुकी कोटिके समान रहती है। तुरसी निरजनी भी गुरुका बडा महत्त्व मानते हैं। गुरुके दर्शन ही सब क्लेशोको दूर करनेवाले होते हैं और उपदेश तो परम सुखदायी होते हैं। तुरसी कहते हैं —

जब ते मोहि दरसन भयो, मिटि गयो सकल कलेस।
तुरसी पायो परम सुष, सत गुरुके उपदेस ॥

अत जिज्ञासु और साधकके लिए गुरु अनिवार्य है। साधना पथके लिए अभिप्रेत आत्मशुद्धिमें भी गुरुका काम महत्त्वपूर्ण है। तुरसीके विचारसे परमात्मासे

मिलनेके योग्य शुद्ध बनानेमें शिष्यके लिए गुरु धोबीके समान है जो कि सब प्रकारकी मलता दूर करता है —

गुरु धोबी सिष कपड़ा साबन सिरजनहार।

किन्तु यह गुरुकी कृपा भी परमात्माकी कृपासे प्राप्त होती है और पतितोंको उद्धार करनेके लिए दोनोंकी ही कृपा वाञ्छित है —

गुरु जिहाज गोविन्दजी संग्रह वेवनिहार।
तुरसी दर्में सहाय ते किते पतित भये पार॥

इस प्रकार सद्गुरुके उपदेशका परममुख मिलनेपर साधक साधना-पथपर प्रयाण करता है।

साधनाके दो स्वरूप

तुरसीका साधक स्वरूप हमें दो प्रकारसे मिलता है। एक तो अपने मन और शिष्योंको साधनाका उपदेश करते हुए और दूसरे स्वयं साधना-पथकी गहन अनुभूतियोंका प्रकाशन करते हुए। तुरसी संतों और साधकोंके दो प्रकारके जीवनका वर्णन करते हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। जिस प्रकार शरीरका निवास मिट्टीके घरमें है उसी प्रकार मनका निवास भी शरीर रूपी मिट्टीके घरमें है। साधुओंका निवास मिट्टीका घर भी नहीं होता है। उनके घरका धरातल पृथ्वी और छत आकाश है किन्तु मनका निवास पंच भौतिक पदार्थोंसे बना शरीर है। अब उचित यह है कि शरीरकी बसती (निवास) अर्थात् संसारमें शारीरिक आसक्ति ही होनी चाहिए मानसिक नहीं मनकी आसक्ति तो शरीरके अंतर्गत ही हृदय कमलपर सर्वदा लगी रहनी चाहिए। तुरसी कहते हैं —

तनकी गुफा धरणि घर अम्बर। मनकी गुफा काया कै अंदरि।
तेहि घर अम्बर गुफा जु माँही। साधू विचरै तुरसी सदाहीं।
कहा थिर तरवर मूल निवास। जहाँ तहाँ विचरै करै बिलास।
कहूँ सेती करै न द्रोह ना कहूँ सो बाँधै मोह।
सम कंचन सम काच विचारै ऐसै विचरै मनसा मारै।
तन गुफा में तन करि बैठै मनकी गुफा माँहि मन पैठै।
१८१ (१९)

नाम सुमिरन

इस प्रकार मनसे राम नामका जप करना साधकका मुख्य कार्य है। नाम-सुमिरन साधनाका प्रारंभ और साधनाका अंत है। अजपा जापकी अवस्था साधनाकी चरम सीमाके समीप है किन्तु साधककी साधनाका प्रारंभ तो नाम सुमिरनसे ही

होना है। तुरसीदास कहते है कि सुमिरन तभी पूर्ण है जबकि शारीरिक कर्म करते हुए भी चित्त सुमिरनमें ही लगा रहता है और पलभरके लिए भी विलग नही होता है। पर उसके बिना चैन नही –

जैसी सुरति विषयी परनारी। लोभी परधन हरन संसारी।
जैसी सुरति कीटी भृग कीन। अरु जल बिछुरै जैसे मीन।
जैसी सुरति नटनीकी होय। बास धरत चित राखे पोय।
ऐसी सुरति राम सूं हय। तुरसी सुमिरन कहिये सोय।

"शरीरसे सासारिक कार्य करता हुआ भी मन उसी सुमिरनमें लवलीन रहे यही साधकका कर्तव्य है। निर्गुणियोका नाम सुमिरन भी इसी प्रकारका है –

'सुमिरणका आदर्श उदाहरण जो कि एक नये साधकको अनुकरण करना चाहिए, पनिहारी युवतीका है। यद्यपि वह चलती और बाते करती जाती है किंतु उसका ध्यान सदा ही शिरपर रखे घटेपर रहता है। साधकको भी उस दशाकी प्राप्ति करनी चाहिए जिससे कि वह पनिहारीकी भाँति यद्यपि चलता-फिरता रहता है और देखनेमे इस ससारमे रहता है, किन्तु उसका सबन्ध पारमार्थिक स्मृतिमे ही लगा रहता है।"† (निर्गुन स्कूल ऑफ हिंदी पोइट्री पृ १२६) इस प्रकारके सुमिरणकी महिमा तुरसी अपार मानते है। तुरसी ही नही नाम सुमिरणकी महिमा सभी निर्गुण और सगुण सत कवियोने मानी है। गोस्वामी तुलसीदासजी तो 'राम ते अधिक रामकर नाम' कहकर कहते हैं –

"राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी"

(रामचरितमानस बालकाड)

यहाँ तक कि वे रामके नामसे आने हुए र और म को भी काव्यात्मक ढगपर सब अक्षरोमें श्रेष्ठ बतलाते है –

एक छत्र एक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोय।
तुलसी रघुबर नामके, बरन बिराजत दोय॥

---

† In sumirana the ideal example that the novice is required to follow is that of maid fetching water Though she walks and talks, yet her mind is ever in the jar that she balances on her head The aspirant too, must endeavour to bring about that condition in which like water maid he moves and has his being in the divine memory, though apparently he is in the world (p 126)

(The Niraguna School of Hindi Poetry)

गोस्वामी तुलसीदासकी भाँति तुरसीने भी राम-नामकी महिमा खूब गायी है। राग काफी भरमे नाम सुमिरनका ही प्रसंग है। जप, तप, तीरथ, व्रत, दान, योग, यज्ञ, ज्ञान, ध्यान सब नाम ही है[1] और कुछ नही। यहाँ तक कि वे कहते है —

नामहि देव, देहुरा नामहि, नामहि भगतिर भाव।
नामहि पूजा, नामहि पाती, नाम सिरोमनि राव ॥

यही नाम सुमिरन साधनाका प्रारंभ रूप होकर सूफियोकी चार अवस्थाओकी भाँति आगे चलता रहता है और एक वह अवस्था आती है जबकि सुमिरनके लिए मुँह खोलना भी आवश्यक नही, कबीर कहते हैं —

सुमिरन सुरति लगाय कै, मुखते कछू न बोल।
बाहरके पट देइके, अन्तरके पट खोल ॥

कबीर तथा निर्गुणपंथियोंके अनुसार सुमिरनकी तीन अवस्थाएँ है। जप, अजपा जप और अनाहत नाद ये क्रमश साधककी नाम-सुमिरनकी विकासकी अवस्थाएँ हैं जैसा कि 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोइट्री' के निम्न उद्धरणसे स्पष्ट है —

"सुमिरनकी तीन अवस्थाएँ हैं। जप, जो कि एक बाह्य क्रिया है, अजपा जाप, जिसमे बाह्य जीवनको छोडकर व्यक्ति शाश्वत जीवनमे प्रवेश करता है, और अनाहत जिसमे साधक अपनी आत्माके सबसे गंभीर धरातलमे प्रवेश करता है और जिसमे आत्म-परिचय उसे इन सब अवस्थाओको पार करा देता है और उसकी सत्ता निरपेक्ष-सी हो जाती है।"[2]

---

१ नामहि जप नामहि तप तीरथ, नामहि व्रिधि व्रत दान।
नामहि अति पुनीत करि गायो, जुगि जुगि वेद पुरान ॥
नाम जोग जग्गि पुनि नामहि, नाम ग्यान अरु ध्यान।
जे निज कै नामहि सूं राते, पार गये ते प्रान ॥

2 There are three stages of the Sumirana, the Japa, which is an outward observance, the Ajapa-jap where in leaving the external life one enters the eternal life, and the Anahat in which the aspirant enters into the deepest recess of his soul, where the recognition of his own-self makes him transcend all these conditions and he becomes the unconditional

(The N S H P by Dr Barathwal)

अजपा जपके लिए रज्जब साहब कहते हैं —

सरीर सबद अस सांस करि हरि सुमिरण लिव लाव ।
जन रज्जब आतम अगम अजपा इसका नांव ॥

किन्तु इस सुमिरनकी तीन अवस्थाओंके परे चौथी अवस्था होती है जिसमें कि उसे अनाहत सुननेका भी भान नहीं रहता है वह विभुसे एकाकार हो जाता है। वह अपनेको भूल जाता है और उसकी दृष्टि चिन्मय हो जाती है। यही मुक्तिकी अवस्था होती है। कबीरने इसको सुमिरनकी तीन अवस्थाओंसे ऊपर कहा है —

जाप मरे अजपा मरे अनहद हू मरि जाय ।
सुरति समानी सब्दमें ताहि काल नहिं खाय ॥

विरागकी भावना

इस सुमिरनके मध्यमें जबकि साधक साधना-पथपर प्रयाण करता होता है उसे दो भावनाएँ विशेष रूपसे व्यथित करती हैं और इन्हीं दोनों प्रबल भावनाओंकी पैरोंपर बढ़ता हुआ साधक द्रुतगतिसे अग्रसर होता है। ये दोनों भावनाएँ हैं — संसारकी असारता और विरह। मनुष्यका मन पग-पगपर संसारकी वस्तुओंमें नाना विलासोंमें और सौंदर्यकी रमणीयतामें उलझता रहता है। हृदय भी कभी कभी उनपर इतना मुग्ध होता है कि वह उन्हें ही सर्वस्व मान बैठता है और दूसरे देखनेमें उनमें प्रबल आकर्षण भी है। साधकके लिए यह आकर्षण सांसारिक व्यक्तियोंके भी आकर्षणसे प्रबल रूपमें आता है किन्तु उसकी अन्तर्दर्शी दृष्टि देख लेती है कि ये सब आकर्षण झूठे हैं और सब सौंदर्य क्षणभंगुर हैं। इन सब आकर्षणोंके मध्यमें उनकी क्षणभंगुरता उनका झूठा अस्तित्व उसे दीख पड़ता है। तुलसीदास भी इसी अवस्थामें अपने मनको समझाते हुए कहते हैं —

मन मीत हमारे, यहाँ नहीं थिराऊ कोय रे ।
जासी आप सब लोय रे ।
लक्ष्मीपति राजा हू जीते राम भजन बिनु गये जु रीते
हाथ झुलावत लोय रे ।
यहि जानि जग ममत निवारी रही नाम रत होय रे ॥ १ ॥
रावन कुंभकरनसे जोधे या भुवि ऊपर भए जु सोधे ।
कहूँ न देखो कोय रे ।
मिथ्या तन धन की मद करि करि ते गये है रोय रे ॥ २ ॥

इस प्रकारके उपदेशसे सब प्रलोभनोको क्षणभगुर बताकर ससारसे विराग उत्पन्न करते हैं। ससारकी वस्तुएँ सदा साथ थोडे ही रहेगी ! जैसे काल आया ये सब यही पडी रह जाएँगी। फिर ससार अपना देश भी नही है, यह तो एक सराय है, यहांकी वस्तुओको प्रेम करनेसे व्यर्थमे ही बिछुडते समय दु खका सामान जुटाना है। यही बात कितनी करुणा और वेदनात्मक भावना एक साधकके हृदयमे उठाती है, यह तुरसीके निम्न पदसे प्रकट है —

ससार सरायमें जियरा, काहे कूं करत सनेह।
राति बसे दिन उठि चलि है तू, फिरौ जु करि यह प्रेह।
जाहि कहत तू मेरे मेरे मेरे तेरे सब सोय।
धरे रहेंगे धरनि ऊपरैं सग न चलि है कोय।

दीनता

इसके साथ-साथ कटु अनुभवोका तांता-सा लग जाता है और वेदनाकी भावना धीरे-धीरे चलनेवाले प्रभावशाली रागसे प्रकट है। तुरसीका साधक स्वरूप जहाँपर ससारकी असारता और परत्मामाकी सर्वशक्तिमत्तापर दृष्टि करता है वहाँपर अपनी दीनता और दुर्बलताको भी नही भूल सकता। वे पग-पगपर परमात्माकी दया और करुणाकी याचना करते हैं और खुले हृदयसे अपने मनकी दुर्बलताका निवेदन करनेमे नही हिचकते हैं। यह आत्म-दोष-निवेदन आत्मशुद्धिके पथपर साधकके हृदयकी सत्यता है। वे कहते हैं —

माधौजी हम अपराध भरे।
जनम पाय सुकृत नहि कीने, दुष्कृत बहुत करे।
जा कारन भव सागर तिरीये, सो चित ते बिसरे।
काम क्रोध अरु लोभ मोह सब औगुन अनत करे।
पावन नाम तुम्हारो तजि कै, पाप पुनि सुमिरे।
जौ साईं फिर लेखा मांगा तौ जीव रे नरक परे।
दया मया करि सब फिलि कीए, तौ तुरसी उबरे॥

इसी प्रकारके अनेक पदोमे तुरसीदासकी विनय और आत्मनिवेदनकी भावना प्रस्फुटित हुई है। साधक अपने अपराधोको छिपाता नही, वह क्षमाशील परमात्माके आगे सब स्पष्टत कह देता है, वरन् वह मनकी पवित्रता भी परमात्माकी कृपासे ही सम्भव मानता है।

साधकका परमात्मासे मधुर सबध

यह भक्त और परमात्माका दास्य-स्वामी भाव रहा। निर्गुण भक्तिके विचारसे निराकार परमात्मासे यह दूरका सबध है। जब साधक परमात्माको

विशेष आत्मीयतासे भजता है तब वह उसके साथ हृदयका संबंध स्थापित कर लेता है। सूफियों तथा निर्गुण संतोंकी साधनामें परमात्माका पत्नी या पति मानकर उपासना करनेकी सरल पद्धति है। इसस प्रेमका मधुर संचार होनेसे मधुर भाव तथा अनन्यता आ जाती है। तुलसी भी सिद्धांतत उपासनाकी इसी मधुर भावनाको लेकर चलते हैं। वे परमात्माका पतिके रूपमें और आत्माको सुंदरी स्त्रीके रूपमें मानते हैं। तुलसीकी आत्माने पातिव्रत और अनन्यताका व्रत लिया है। वह एक परमात्माको छोड़कर अन्यको ग्रहण नहीं कर सकती है। "निहकर्मी पतिव्रता" के प्रसंगमें तुलसी कहते हैं —

तुलसी कै क्वारी कन्या रहूँ कै वर वरिहूँ राम।
मनसा वाचा कर्मना औरनि सूं नहिं काम॥

और इतना ही नहीं आत्मा केवल प्रण ही नहीं करती है वह परमात्म पतिकी साधनामें तत्पर है। वह विरागिनी बनकर संसारके सुखों व आकर्षणोंसे मुँह मोड़े है —

तुलसी तुम्हरी तम विनवत रहूं तुम ही तुम रटूं राम।
तुम बिन और अनेक सुख सो नहीं हमरे काम॥

यह आत्माकी अनन्यता है। इस सबंधको और भी स्पष्ट करते हुए तुलसी कहते हैं —

तुलसी आत्मसुंदरी अपने उर मंदिर संवारि।
पंथ निहारे पीव की पल पल बारंबार॥

इस प्रकार आत्माकी जिसने कि परमात्मा पतिका वरण कर लिया है विरह वेदना अत्यन्त असह्य है और इसी अनुभूतियोंमें तुलसीके साधक-स्वरूपका निर्माण कर दृष्टिगोचर होता है। तुलसी अपनी आत्माको इस अनन्यता और सतीत्वमें दृढ़ रहनेका ही उपदेश देते हैं क्योंकि यदि पातिव्रत धर्मका व्रत न लिया तो आत्मा पतिसे अग्राह्य होगी और उसका फिर निभना ठार नहीं है —

तुलसी पीव कहा करै जो पतिव्रत शुद्ध न होय।
अनव्रता करतो फिरै अपनो पातिव्रत खोय॥

यह पातिव्रतका व्रत लेकर ही साधककी अनन्यताकी चोटकी होती है और यही विरह वेदनाकी अवस्था जो आत्मानुभूतिकी भी अवस्था है साधकके लिए अत्यन्त कठिन अवस्था है। य वेदना ही साक्षात्कार मार्गपर आगे बढ़ती है परमात्माका सान्निध्य पहुंचा जाता है जब विरहिणी आत्माको वह प्यारा अत्यन्त याद पड़ता है। विरहिण के प्रसंगमें तुलसी कहते हैं —

कब मिलि हौ कब भेंटि हौ कब देखि हौ के पाय।
बिन पायन के बीछुरे बहु दिन भये बिहाय॥

साधककी विरहकी अवस्था

विरह-अनुभूति साधनाकी एक पहुँची हुई अवस्था है और तुरसीके विचारसे जिस हृदयमे यह विरह-वेदना उत्पन्न होती है, वह जन बडभागी है[†]। विरहकी तीक्ष्णताका सब ा हृदयकी पवित्रतासे है। पवित्र हृदयमे प्रेम-सचारके साथ विरह या वियोगकी अवस्था अत्यत गहन होती है और उसे विना दर्शनके रहा नही जाता। यो तो वियोगकी अवस्थामे सभी आत्माएँ है, किंतु साधक जव अपने हृदयको पवित्र कर परमात्माका सान्निध्य अनुभव करता है तव उसे यह व्यवधान भी विशेष खलता है। वह अपने आदर्शमे तल्लीन होना चाहता है। उससे अलग रहना अत्यत वेदनापूर्ण है। पल-पल भर वह उसके साहचर्यके हेतु उत्सुक है। यही दशा प्रेमयोगियोकी विरह-दशा है। चैतन्य, मीराँ आदि वैष्णव भक्तोने भी इसी विरहका प्रदर्शन अपनी कृतियो व गीतोमे किया है। सगुण उपासकोका ध्येय एकाकार होना नही होता है। वे तो सर्वत्र उसके दर्शन करते हैं किंतु निर्गुण उपासकोका विरह विषम होता है, फिर भी यह दशा आनदकी है। जैसे ही इसकी तीव्रता वढ़ती जाती है साधक आत्मविभोर होता जाता है। यहाँ तक कि अन्यका सुनना व देखना भी वद हो जाता है और एक परमात्माकी ही रटन अधरमे रहती है —

श्रवन सुननकी सुधि गयी, रसना रटै न आन।
नैन रहे एक टके होय, देखन कूँ प्रिय प्रान ॥

विरहकी अवस्था दो रूपोमे होकर आती है। तुरसीने इसका वर्णन ज्ञान-विरह और प्रेमविरहमे किया है। ज्ञान-विरहमे ससारकी सब वातोको देखकर आश्चर्य होता है और सासारिक व्यापार प्रतिकूल लगते है। आत्मा इस अवस्थामे ससारके वातावरणको अपने अनुकूल नही पाती है और परमज्योतिसे मिलनेकी कामनामे है। इस दशाका वर्णन कठिन है और यह आत्मदर्शनके साथकी दशा है। कवीर और तुरसी आदि सतोने इसका वर्णन उलटवाँसीके रूपमे किया है। यह उल्टे व्यापारोका वर्णन रहस्यवाद भी कहलाता है। ससारको छोडकर उल्टे पथकी ओर अग्रसर आत्माको ससारकी वाते विचित्र दिखायी देती है। तुरसी कहते हैं —

पानी माँही प्रगटी, पावक एक प्रचण्ड।
सपत दीप सावित रहे, दगध किये नौ खण्ड ॥

---

† जा उरमे उतपन भया, वडभागी जन सोय।
तुरसी या विरहा किवौं, मेरी जीवनि जोय ॥

यह अग्नि ज्ञान-विरहकी अग्नि है जिसमें कि भौतिक तथा इंद्रियोंके व्यापार जल गये और आत्माके व्यापार बने रह गये। इस अग्निमें आत्माको शीतलता व आनंद मिलता है —

जल मांही एक झल उठी सीतल सुष सुभाव।
तुरसी ता पावक महीं मीन करैं बिलराव ॥

यह विचित्र अग्नि है। यह जिसमें उत्पन्न हुई है उसको पानीके समान सुन्दर सांसारिक साज तो जलानेवाले लगते हैं और अग्निके समान विषम साधन उसे शीतलता देते हैं —

पानीमें प्रवेश किए महुर महुर बरै अंग।
तुरसी पावक परस तै उपजै अंग तरंग ॥

इस अवस्थाको समझनेवाला एक ज्ञानी है अन्य इसको नहीं समझ सकता है। तुरसी कहते हैं —

दौ लागी दरियावमें उपल भया पानी।
तुरसी या गति कौ कोउ समुझौ जन ग्यानी ॥

इस शरीररूप नदीमें विरहकी आग लगी जिससे कि जितनी भी भौतिक वासनाएँ और इंद्रियसुख व सबकी कामनाएँ जल गयी। केवल एक विशुद्ध आत्मा उस अग्निमें शीतलताका अनुभव कर रही है।

इस ज्ञान-विरहकी अग्निकी ज्योति आनंद-पथको प्रदर्शित करनेवाली होती है जिस प्रकार कि सराव तेल बती पावकसे उत्पन्न ज्योतिके प्रकाशमें मनुष्य प्रत्येक वस्तु अंधकारके बीच भी देख सकता है उसी प्रकार इस अवस्थामें भी मनका सराव बनाकर, ज्ञानकी बातीसे थिर या सुरतिका तेल भरकर विरह पावकसे प्रज्वलित दीपककी अखंड ज्योतिमें संसारके कलुषको हटाकर शुद्ध सच्चा पथ दिखलानेकी शक्ति विद्यमान है। तुरसी एक चौपाईमें इसी बातको दिखलाते हैं —

ज्यूं सराव पावक पुनि बाती।
तेल भराय जु जोवै राती।
यूं मन पवन विरह अरु विन्द,
भये एकत्र उपजै आनन्द ॥

प्रेम विरह

दूसरी प्रेम-विरहकी अवस्था विशेष वेदनापूर्ण होती है। इसमें आत्मा परमात्माके दूरत्वकी अनुभूतिसे विकल है और प्रतिपल मिलनेके लिए छटपटा रही है। इस अवस्थाका वर्णन निर्गुण संतोंमें प्राय सभीने किया है। कबीर उसी उत्सुक अवस्थाका वर्णन करते हुए कहते हैं —

अंखियां तो झांई परी, पथ निहार निहार ।
जीहड़ियां छाला पड़ा, नाम पुकार पुकार ।।

दुःख यही तक सीमित नही रहता है। विरहिन आत्मा अत्यत व्याकुल होती है और परमात्माका वियोग असह्य हो जाता है जिसका वर्णन कबीरने कितने मार्मिक शब्दोमे किया है —

कै विरहिनको मीच दै, कै आपा दिखलाय ।
आठ पहरका दाझना, मो पै सहा न जाय ।।

विरहिन आत्माको परमात्माकी सुधि किसी भी समय भूलती नही है। तुरसी भी प्रेम-विरहमे बडी वेदनाका वर्णन करते है। वे उपालम्भ देते है —

अस कस बनिहैं साइयां, तुम जलनिधि हम मीन।
तुम निरमोही नाथ जी, हम तलफि-तलफि जीव दीन ।।

साधककी विरह वेदना बढ़ती ही जाती है और उपालम्भ देनेकी अवस्थामे भी बढ जानेपर अपना रहना उसे असह्य होने लगता है। इसी अवस्थामे साधक तुरसीकी विरहिन आत्मा गा उठती है —

रमइया तुम बिन रह्यो न जाय ।
दया मया करि अदरि मेरे, वेगि मिलो किन आय ।।

इस दशामे आत्मा परमात्माके दर्शनके लिए तलफती है। उसे परमात्मके दर्शन पानेके अतिरिक्त और कुछ भी सुहाता नही है। ससारके खान-पान, भोग-विलास यहां तक भोजन और वस्त्र तक विरहिन आत्माको झुलसानेवाले लगते हैं और उसके सुखका आधार केवल परमात्माका दर्शन ही है। तुरसी कहते हैं —

जो हरि आय अधार दे, अपनो दरस लखाय ।
तौ तुरसी विरहिन जीवै, नहीं तलफि तलफि मरि जाय ।।
सुहावै न सरीर सुख, विष भरि लागै भोग ।
तुरसी ऐसे होय रही, विरहिन पीवके जोग ।।

इस विरहकी अवस्थामे उसे सासारिक भोग-विलासोके प्रति ही विरक्ति हो यही बात नही है, उसे स्वर्गके सुखोकी भी लालसा नही है। उसे रामके दर्शनके अतिरिक्त और कुछ भी इच्छित नही है। वह और कुछ भी नही चाहती। तुरसी कहते हैं —

ना सुख चाहूं सरग को, ना धरके धन धाम।
मै प्यासी तव दरसकी, दरसन दै हो राम !

इतनी विरक्ति और इतनी अनन्यता यही साधककी पवित्र विरहावस्था है। इस विरहकी आँचमें तपकर साधककी आत्मा शुद्ध हुआ करती है। इस विरह व्यथामें आत्मा मिलनकी आशा लगाये रहती है। वह सोचती है कि यदि प्रियतम मिल जाएँ तो आँखोंके बीचमें रखकर फिर न जाने दूँ। केवल एक बार मिलें तो! तुरसी कहते हैं —

> नैननि ऊपरे राख मैं जो देखूँ निरताय।
> तुरसी पलक पटसाय कै राखूँ मधि समाय॥

यह विरहिणके मिलनकी कल्पना है। कबीर इस काल्पनिक मिलनकी अनुभूतिको सच्ची करके व्यक्त करते हुए कहते हैं —

> नैनोंकी करि कोठरी पुतरी पलँग बिछाय
> पलकोंकी चिक डारि कै प्रियतम लिया रिझाय। (कबीर)

तुरसीके भावमें मिलनकी आशा नहीं उत्सुकता है। उन्हें संदेह है कि न जाने कितनी यातना और सहनी पड़े और कब प्रियतम आकर मिलें। यही आतुरतासे भरी हुई आकुलता निम्न कथनमें परिपूर्ण है —

> विरहिन बौरी हुइ रही तनकी सुधि बिसराय।
> का जानूँ कब मिलहिंगे परम सनेही आय॥

साधककी विकलता

किन्तु इस आकुलताके बीच भी तुरसी विरह दीपक या विरह ज्वालाके प्रकाशमें परमात्माके दर्शन करते हैं। उन्हें तुरसी संगीत सदृश-सा अनाहत नाद भी सुनायी पड़ता है। फिर भी तुरसीकी आत्मा विकल इस कारणसे है कि वह केवल दर्शक या श्रोताके रूपमें ही रहना नहीं चाहती। वह उस विभुका एक अंग बनना चाहती है। वह उसका ही अंग बनकर उसीमें लीन और मग्न होना चाहती है। यही उसकी विकलता है यही उसकी छटपटाहट है।

जब साधककी आत्मा पूर्ण पवित्रताके साथ परमात्माको पतिके रूपमें वरण कर लेती तब उसका परिचय भी उस असीम सत्ताके साथ होता अवश्य। और यह भी एक मिलनकी अवस्था है किन्तु काल्पनिक क्योंकि पूर्ण मिलन तो अपनेको मिटाकर आत्मविभोर होकर ही संभव है। यह विरह अवस्थाके अंतर्गत एक मिलनकी अवस्था है। यह दाम्पत्य परिणय ही संसारकी रहस्यानुभूतिका मूल है जो कि सूफियों और ईसाई संतोंमें भी पाया जाता है। कबीरने भी इस संबंध विवाहके मधुर गीत गाये हैं।

> हरि मोर पीव मैं रामकी बहुरिया।
> राम बड़े मैं छोटक लहुरिया। आदि

उन्होने साधनाकी अवस्थाओको आत्मा-परमात्माके विवाह, गौने इत्यादि मधुर भावके सबधोकी रीतियोके रूपमे सरस वर्णन किया है। "पिय ऊँचीरी अटरियाँ तोरी देखन चली", "आयी गवनवाँकी सारी उमरि अजहूँ मोरी बारी", "करो जतन सखी साँई मिलनकी" तथा "कर ले सिंगार चतुर अलबेली साजनके घर जाना होगा" इत्यादि गीतोमे इस विशद सबधके विकासका मधुर चित्रण किया है और स्निग्ध अनुभूतिकी सघनताने इन गीतोमे अपूर्व माधुर्य भर दिया है। तुरसीने भी उस अवस्थाका वर्णन किया है। एक पदमे रामको पति बनानेका और विवाहकी पूरी क्रियाका वर्णन तुरसीने किया है –

मेरे परम स्नेही रामजी तुम जीवन प्रान आधारो।
अनेक जनम बिछुरे भये, मैं बहुत लिये अवतारो।
अबकै मन मैं यूं बनी, वरि हौं राम भरतारो।
धरी महूरत सोधिकै, ब्रह्मा लगन विचारो।
मैं अबला बारह बरसकी, षोरस सज्यो सिंगारो।
लगन जाय हरिफूं दियो तब व्याहन चल्यो मुरारो। इत्यादि

पूरे पदमे विवाहकी धूमधामका वर्णन है।

परिचय

विरहावस्थाके अतर्गत परमात्माका सान्निध्य बढता जाता है। इस परमात्माके बढते हुए परिचयकी दशाको निर्गुणी सत "परचा" कहते हैं। साधकका अलौकिक अनुभव जितना बढता जाता है उसकी कथन-प्रणालीमे उतनी ही अलौकिकता, अनोखापन तथा रहस्य आता जाता है। तुरसीने 'परचा' की दशाका अनुभव अत श्रुति और अतदृष्टि दो अनुभूतियोके द्वारा किया है। प्रथम प्रकारके परिचयका वर्णन करते कहते हैं –

प्रथम अनाहद नाद सूं, परचा पिंड मंझार।
तुरसी पायो परम सुख आनद बढ्यो अपार।
नाना विधि तहं धुनि उठै, बाजै अनहद नाद।
तुरसी तहां मन मानिया, छूटा वादविवाद॥

इसी अनाहत नादके साथ परब्रह्मकी ज्योति भी प्रकट होती है †। उस ज्योतिकी अलौकिकता मनोमोहक है और वह वातावरण विचित्र है। तुरसी उसका वर्णन यो करते हैं –

---

† अनहद बाजा बाजही, रुन झुन धुन तहं होति।
तुरसी तत्र प्रकट रही, पारब्रह्मकी ज्योति॥

> ससिहूँ ते सीतल अधिक रविहूँ ते अधिक प्रकास।
> चन्दन हूँ ते सुगन्ध अति तहाँ सन्तन कियो निवास।

फिर विचित्रता यह है –

> तुरसी जहाँ ए तव छाया नहीं नहिं बारी नहीं बेलि।
> विविध विविध कुसुम विगसि रहे तहाँ मधुकर करैं कुकेलि।

पुनः उस वातावरणमें और परिचयके प्रदेशमें –

> बहरा गुझि बानी सुनै सुरता ‡ सुनै न कोय।
> तुरसी सो बानी अगद मुखबिन उपजै तोय।
> अंगा बढ़ि तरवर बढ़े सपने बहन्या न जाय।
> तुरसी ज्योती जगमगै अन्धे दूँ दरसाय।।

यह विचित्र अनुभव साधकोंका है। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि इन्द्रियोंको जिनने सांसारिक व्यापारोंके लिए बन्द कर लिया है जिसके कान लौकिक बातोंके लिए बहरे हैं आँखें लौकिक दृश्योंको देखनेके लिए अंधी हैं जिसके हाथ-पैर लौकिक क्रिया-कलापमें व्यस्त नहीं वही उस परमज्योतिके दर्शन और अनाहतका श्रवण कर सकता है। साधना सिद्धांतका व्यवहारिक स्वरूप है। जिसे हम दार्शनिक विचारके प्रकरणमें सूक्ष्ममार्गकी अवस्थामें वर्णन कर आये हैं साधनामें उसीकी अनुभूतिका प्रकाशन है। तुरसी स्वयं उस अनुभूतिको स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

> पसारी देखनके नैन मूँदे उघरे उरके नैन।
> तुरसी जगमग जगमग हुँस तासमि ताहि जु देवै सैन।।

योगियोंकी भाषामें तुरसी उसी आनंदका वर्णन करते हुए कहते हैं —

> उगा चन्द्र अस्त भया सूर। तुरसी बज अनाहद तूर।
> बरसन लागा अमृत धार। सोरस अंचवे आतमसार।।

साधकके विभिन्न रूप

विरहमें परिष्कृत आत्माका परमात्म परिचयके साथ-साथ यही आनंद प्राप्त होता है और यह साधकका अनुभव है। जिनका आनंद स्थायी हो जाता है वे सिद्ध और जिनका नहीं होता है वे पुनः साधक ही रहते हैं। इस आनंद स्थायित्वकी साधकको भिन्न भिन्न कोटियोंका तुरसीने अपनी साखी ग्रंथमें वर्णन किया है। प्रथम प्रकारका साधु 'जीवन्मुक्त' है। जब साधक संपूर्ण कामनाओंको ब्रह्ममें

‡ मुक्तिकामा भावकामा

होम देता है तव वह जीवन-मुक्तिकी दशाको पहुँचता है। उसे कोई भी वस्तु वाधक नही रह जाती है। "क्या कासी, क्या ऊसर मगहर राम हृदय वस तेरा" इसी प्रकारके सतोंके लिए ही कवीरने कहा है। तुरसी भी कहते हैं —

भखै पिंड परो वाराणसी, भखै सुपच सुग्रेह।
ग्यान सपूरन सतजन तिनहिं कौन सदेह ॥

इस अवस्थाकी प्राप्ति उन्ही लोगोको होती है जिनके हृदयसे कामनाकी मूल पूर्ण रूपसे उखड गयी है। वे साक्षात् भगवान्‌के स्वरूप होते हैं —

काम न कवहूं झलक दिखावै, क्रोध अगिनि काया न जरावै।
तुरसी उभै लाभ अरु मोह तिनहूंको मिटि गयो अंदोह।
हरष सोग हिरदै नहीं सपति बिपति समान।
लोहा कचन समि गिनै, सो मूरति भगवान ॥

ये सिद्ध साधुओमे है। दूसरे प्रकारके साधु "कुसली विदेह" की अवस्थामे होते है। यह साधु सपूर्ण जगतकी कुशल देखता है और अपनेको भूला रहता है। जिस प्रकार आटेमे नमक मिला रहता है उसी प्रकार वह परमात्मामे सदालीन रहता है। उसकी गुणदोषकी दृष्टि नष्ट हो जाती है और ससारके सव पदार्थ केवल कल्याणमय ही दिखायी देते हैं —

गुनदोषकी जु दष्टि ही, सु सहजै गयी विलाय।
तुरसी कुसली सन्त सब, देखैं कुसलहिं भाय ॥

तीसरे प्रकारके साधु "विदेह" होते है। इनकी अवस्था वडी वेढव होती है। यह अवस्था सिद्धकी है। तुरसी विदेह साधुओकी वात पूछनेका अधिकारी सवको नही वतलाते हैं —

तुरसी वात विदेहकी, रे मन पूछि न मोहि।
जो बिसरै तू आपनो, तौ उपदेसू तोंहि ॥

वडे पुण्यसे साधक 'विदेह' अवस्थाको प्राप्त करता है —

तुरसी वात विदेहकी मुष भरि कही न जाय।
षड्ग वारहु ते दुलभ, भाग होय तौ पाय ॥

'विदेह' 'जीवन मुक्त' से भी वढकर है। उसे किसी वातका भान नही। वह मत्त हाथीकी भाँति विचरता हुआ परमात्माके आनदमे अपनेको भूला रहता है। वह विश्वात्माके साथ इस प्रकार मिल जाता है जैसे कि वाष्प गलकर पानी हो जाती है।‡

---

‡ सरीरकी सुधि सार न जानै। होय रह्या मत आतम ग्यानै।
वेहद पदमे रह्या समोय। ज्यूं पाला गलि पाणी होय ॥

अथवा अतरमे स्थित प्रकाशका दर्शन प्राय सभी सिद्धोको होता है। उसका स्वरूप चाहे जो कुछ हो। यही ज्योति बुद्धको अहिंसाके रूपमे प्राप्त हुई थी। और ईसाको 'प्रेम' के रूपमे इसी प्रकाशके दर्शन हुए थे। प्राचीन साधको और महात्माओने इसी अवस्थासे चारो ओर कण-कणमे व्याप्त परमात्माके दर्शन किये थे। यह अवस्था विरह और हृदयमथनके पश्चात् प्राप्त हुई तन्मयताकी अवस्था है और इसके पश्चात् आती है समाधि और परम शाति, जिसमे कि आत्माकी भिन्न सत्ताका नाश हो जाता है और जिसको बौद्ध निर्वाणकी अवस्था कहते हैं। उसमे वाणी मूक हो जाती है और भाव प्रकाशन बन्द हो जाता है। साधक मूक रूपसे परमानदमे समा जाता है। वह अवस्था वर्णनातीत है।

तुरसीने अपनी साखियो और अपने पदोमे अपनी **मुखर दशा** का ही परिचय दिया है जिनसे हमे उनकी साधनासे प्रसूत उनकी विरह वेदना, हृदयमथन और आत्मपरिचय तथा आनदकी अवस्थाका आभास मिलता है, किंतु वे अपनी साधनाकी **मूक अवस्थामें** तन्मयता और गभीर आत्मसमर्पणकी वेलामे क्या थे, हम अनुमान नही लगा सकते क्योकि उस अवस्थाका वर्णन जितना कठिन है, उससे भी अधिक दुस्तर है इतने दिनोके बाद आज उसका अनुमान ! ! !

६

समाज और धर्म

तुलसीकी रचनामें उपदेश तथा भावनात्मक अनुभूति-प्रधान होनेके कारण हमें उसमें तत्कालीन समाजका चित्रण प्रायः नहीं मिलता है। समाजका चित्रण उनका उद्देश्य भी न था। फिर भी उनकी कृतिके बीच-बीचमें कहीं-कहीं समाजमें प्रचलित कुरीतियों धर्मके बनावट-आडम्बरों तथा असत्यसे हटानेवाले अंध विश्वासों और इसी प्रकारकी बातोंपर आक्षेपात्मक शब्द अवश्य मिलते हैं जिनमें हमें उस समय प्रचलित समाजकी रीतियों तथा विश्वासोंका हल्का-सा आभास मिल जाता है।

तुलसी समाजमें प्रचलित झूठ और भ्रम उत्पन्न करनेवाली बातोंके विरोधी थे। वे पञ्चमसि मारण उच्चाटन मंत्र जप अघोरपन आदिको एक मोहका कारण समझते थे और कहते थे कि इनसे भूला मनुष्य अपनेको भूला रहता है। मनुष्य जब संकीर्ण दृष्टिसे देखता है तभी वह दूसरोंको हानि पहुँचानेकी बात सोच सकता है। वे इस प्रकारके लोगोंको लक्ष्यकर कहते हैं —

तुलसी बैठ बाभन मोहनमें बैठ मोहन बोहि।
बैठ बाभन भारनमें रहे भूमप यूं होहि॥

यही नहीं वे इस प्रकारकी क्रिया कर्म काण्डोंसे प्राप्त फलको अग्राह्य और बन्धनमें डालनेवाला कहते हैं —

एक भरम एक क्रम फल एक विरले फल भोग।
मन माँही आसक्त होय रहत घड़ी लौं होय।

इनमें फँसनेवाला व्यक्ति घटमालकी भाँति आवागमनमें लीन रहता है।

परमात्माके मनुष्य रूपमें अवतरित होनेके विचारके भी तुलसी विपक्षी थे। जिसके हाथ पैर, नाक मुख आदि अंग हैं जो बालक युवा तरुण और वृद्ध हो सकता है वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता और उनका उपास्य राम अवतार लेनेवाला नहीं —

कुनि जनमै कुनि बाल होय तरुन भी होई सोय।
तुलसी वृद्ध होय बिनसई सो तो राम न होय॥

तुलसीका परमात्मा † परमतत्वके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और उसके हाथ पैर नाक नेत्र आदि कुछ भी नहीं हैं। समाजमें प्रचलित इन सब प्रकारके

† जाके पानि न पद नयन नैन नासिका नाहिं।
तुलसी ऐसा परम तत व्यापि रहा जग माँहि॥

विश्वासोका कारण तुरसी ज्ञान और धर्मका अभाव बतलाते हैं। ये व्यर्थके विश्वास व पाखण्ड तभी तक समाजमे मान्य हैं जब तक कि सत्यका ज्ञान नही होता है। जिस प्रकार अधकारके रहते हुए ही दीपक, तारे आदि प्रकाश कर सकते हैं किंतु सूर्यके उदय होनेपर इन सबका प्रकाश-प्रयत्न व्यर्थ रहता है, इसी प्रकार समाजमे प्रचलित अन्धविश्वास भी ज्ञानके अभावमे ही फैलते है। 'भरम-विधुस' के प्रकरणमे तुरसी कहते हैं —

दीपकको बल तबलग, जावत रजनी रही छाय।
तुरसी भान उदै भये, दीपक जाय विलाय॥
जब उर उत्तम धरम प्रकासै, तब कनिष्ट सहजै ही नासै।
तुरसी ज्यों अकासके तारे, दिन उदै भये दिष्टि ते न्यारे॥

'मूर्ति-पूजा' के भी तुरसी विरोधी थे। मनुष्यकी गढी प्रतिमामे ही परमात्माको केंद्रीभूत कर देना उनकी समझमे न आता था। जब ज्ञान और बुद्धि-युक्त मनुष्य परमात्माका अवतार नही हो सकता है, तब अचेतन मूर्ति भला परमात्मा कैसे हो सकती है? यह तो झूठा विश्वास लोगोको भुलावेमे डालनेके लिए है। तुरसीके परमात्माके लिए किसी बाहरी मदिर और कृत्रिम मूर्तिकी आवश्यकता नही, वह तो अतरके मदिरमे ही निवास करता है —

तन मदिरमें रमि रह्या, अलख निरजन देव।
तुरसी ताहि विसारि नर, करत कृत्रिमकी सेव।

फिर भी तुरसीका उदार हृदय, कल्पना और अनुभूतिकी प्रारभिक अवस्थामे मूर्तिपूजाका विरोध नही करता। जब तक कि दृष्टि इतनी विशाल नही होती है कि अपने अन्तर्गत और ससारमे व्याप्त परमात्माको मनुष्य पहचान सके, तभी तक तुरसीके मतानुसार मूर्तिपूजामें महत्त्व रखा जाता है किंतु सच्चा ज्ञान उदय होनेपर फिर मनुष्य मूर्तिपूजाको सच्चा नही समझ सकता है। जिस प्रकार क्वाँरी कन्या गुडियोंके साथ खेलती है किंतु असली पति जब विवाहके पश्चात् मिल जाता है तब वह उन्हे फेंक देती है। यही बात मनुष्यके लिए भी मूर्तिपूजाके लिए तुरसी कहते हैं —

कन्या क्वारी गुडियन सग, तावत षेलै करि करि रंग।
तुरसी जावत पतिहिं न पावै, पति पावै तब तिनहिं वहावै।
ऐसेहि भरम करम ये जानि। तावत साँचे ये परवानि।
जावत् उदै न आतम ग्यान। रविवत् हरन रजनि अग्यान॥

तुरसी लगनसे रहित, थोथा पाडित्य झाडनेवाली व्यर्थका पाखण्ड व अन्धविश्वास फैलानेवाली कथाओको भी वे अज्ञानमूलक समझते हैं। जोग सध्या, तप,

तीर्थ तर्पण आदि करते हैं किन्तु इनसे आंतरिक शुद्धि नहीं होती है। ये सब बातें अधिकांश दिखाऊ हैं। यदि इनमें सच्ची आसक्ति या लगन नहीं तो यह सब एक झूठा कार्य है। कथा कहनेवाले पंडितोंसे कहते हैं —

पोड कौन कथा यह सार।
जा सुनि संत उतरि गये पार॥
अब यह कथा सुनत सबकोऊ, ज्यूं के त्यूं ही जाहीं।
यह आसक्ति उपजनि कहू औरा जा सुनि समझू जाहीं॥

इतना ही नहीं वे व्यर्थ ज्ञानकी डींग मारनेवाले साधु ज्ञानी बननेवाले व्यक्तियोंको भी खूब फटकारते हैं। ग्यान बंद (अर्थात् अधूरे ज्ञानवाले) के प्रकरणमें वे कहते हैं —

दोय चार साखी कही दोय चार कहे पद।
कहे समझू अब भे पूरी हम ग्यानी बेहद॥

व्यर्थके गुरुडमका भी तुरसी विरोध करते हैं। बिना पूर्ण † [illegible] कुछ साखी दोहा पद आदि कहकर जो बिना आत्म तत्वको पहचाने ही अहं [illegible] सुनते हैं उनको तुरसी दो-तीन पदोंमें अच्छी डांट बताते हैं। बानी कह भी [illegible] वे बड़े महात्मा हो गये और घमण्डके कारण फूले नहीं समाते हैं। करनीके बिना ये सब व्यर्थ है —

बानी कथि कथि फूले प्रानी।
जो अति उन सतन बहुबानी सो तो एक न बानी।
सोवत मावों मैथुन सों मर सावत अब अम्मानी।
करनी मोख बूंद तुल नाहीं क्यों मिमिझो निरबानी।
विविध विविध बैन उचारै मुख विविध कथा कहानी।
विविध विविध अरथ औगाहै वै परख न तर्क गुमानी।
जन तुरसी यह आहि और ही अनुभव अधिक न जानी।
बिन विकारि अपने उर धारी ते अब निवाचं की पानी॥

बानी कहनेका अधिकारी वही है जिसके पास अनुभव व साधना हो। जान पड़ता है उस समय इस प्रकार बानी कहनेकी व्यर्थ प्रथा-सी चल पड़ी थी जिसका विरोध तुरसी उपर्युक्त पद तथा एक और पद 'बानी भई सावन की पानी' में करते हैं।

---

† वासुरहित शान्ति।

इसी प्रकार तुरसी उन लोगोको भी धिक्कारते हैं जो कि बकध्यानी होते हैं। धर्मके नामपर उस समय भी अनेक आडम्बर फैले थे और बहुत-से लोग ऐसे भी थे जो पूजा तो दिखावेके लिए ही करते थे किंतु उनका मन इधर-उधर फिरा करता था और स्वार्थकी बाते सोचा करता था। ऐसे लोग आत्मशुद्धिसे वचित रहते हैं। इसके लिए तुरसी कहते हैं —

पलक मूँदि सुमिरन करैं, ध्यान धरहिं यकतार।
मन बिचरै बाजारमें, तार्को सुद्धि न सार।

निर्दय और मासाहारी लोग भी समाजको दूपित तथा अपनी आत्माको कलुषित किया करते हैं। एक सतका हृदय इस प्रकारकी निर्दयतापर विना तिल-मिलाये नही रह सकता। अत इस स्वार्थी और परायी पीर न जाननेवालोको तुरसी बुरी तरह फटकारते हैं —

जो अपने कांटा चुभे तो परा परा बिललाय।
पर पीरहिं जानै नहीं, गला काटि कै खाय॥

फिर कितने ही मनुष्य साधु-सतोंके वेपमे रहते हैं किंतु मनसे वे सब प्रकारकी वासनाओमे लिप्त रहते हैं। ये लोग अपने वेषके कारण ससारके लोगोको धोखा देते हैं। अत तुरसीके विचारसे आत्मशुद्धि और सच्ची भक्तिसे हीन वेषका कोई स्थान नही है। आत्मशुद्धि जिसकी हो गयी है उसका वेष-कुवेष कुछ भी हो वह पूज्य ही है, किंतु कोई भी वेष, बिना भक्तिके व्यर्थ है —

तुरसी भावै जगत रहु, अग बहु भस्म लगाय।
निरति सुरति लागै नहीं, प्रीति बिना हरि नाँय॥

सतोका-सा पहनावा तब तक व्यर्थ है जब तक कि मानसिक और आत्मिक शुद्धि नही हुई है। बिना इसके साधुवेष व्यर्थ है। तुरसी कहते हैं —

लैकै गुहि पहराइये, कउवा कै गल माल।
तुरसी महा मोतीनकी, तऊ न तजत कुचाल॥

इसी प्रकार बने हुए साधुओको भी तुरसी फटकारते है। साधु लोग स्वभावसे ही सहनशील होते हैं। उन्हें निंदा और स्तुतिकी विशेष परवाह नही रहती। चाहे कोई कुशब्द कहे तो भी उनका कुछ नही बिगडता है —

तुरसी कुसबद का करैं, जो बसहू होय वास।
परै समुद बिचि बीजुरी, कहा जरावै तासु। (मुसबद)

फिर भी कुछ लोग व्यर्थमें ही साधुओंके रास्तेमें व्यर्थ ही आ पड़ते हैं और उनके भजनमें बाधा डालते हैं। ऐसोंके प्रति तुरसीका हृदय आवेशयुक्त हो जाता है और वे गरजकर कहते हैं —

जे निरदावै हरि भजै जग सूं तिणका तोरि।
तिनहूं सूं मांडै धुती अंध हरामी चोर॥

समाजमें सब प्रकारके लोग होते हैं। कामीनर के प्रकरणमें तुरसी ऐसे लोगोंको बुरा-भला कहते हैं जिनका जीवन विलासमय है और व्यर्थकी मृगतृष्णामें फँसे कष्ट सहा करते हैं। वे थोड़ी देरके सुखके पीछे जीवन व्यर्थ किया करते हैं —

अलप सुखमें अंध नर रहे अनंती होय।
ज्यूं मूरख कनाकी काया सीनक बैठा होय॥

कभी-कभी तुरसी इन भूले सांसारिक लोगोंके लिए कालका भय दिखाकर उन्हें व्यर्थके मोह-माया जालमें फँसनेसे रोकते हैं और जीवनको सार्थक बनानेकी बात कहते हैं —

ऊंचे-ऊंचे महलनिपर ऊंचे रचहिं अवास।
तुरसी यूं जानै नहीं काल गिनत है स्वांस॥

फिर उसे चेतावनी देते हैं —

काल अचानक देहुगे ज्यूं चीता की लोय।
तू गाफिल होय बावरे, कहा रहे सुख सोय॥

इस कालसे बचनेके लिए केवल एक संजीवनी औषधि है और वह रामनाम है। जो उसका सेवन करते हैं उन्हें कालके हाथसे बचकर अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होती है।

तुरसी वर्णाश्रम धर्मके तीव्र विरोधी थे। वर्ण और आश्रम पद्धतिको मान लेना अन्धविश्वास जब तक है तब तक आत्मज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। एक परम्परासे आये हुए नियमपर बिना समझे-बूझे चलना है —

तुरसी वरणाश्रमकी बाहर रहौ सु ठाम।
तहाँ अकम्मय ध्यान की भाग न वेद विधाम॥

जन्मसे ही यह ब्राह्मण यह क्षत्रिय यह वैश्य और यह शूद्र है इसको तुरसी नहीं मानते थे। तुरसीका कहना था कि यदि कार्य उत्तम है तो उसका जन्म नीच होनेसे कुछ हानि नहीं है*। नीच वही है जो नीचके कर्म करे। जो ब्राह्मणका कर्म करे वह ब्राह्मण है उसका जन्म चाहे जिस वर्णमें हो। फिर जो रामका भजन करना चाहता है और निष्कर्मी रहना चाहता है, वह तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र कुछ भी नहीं है यहाँ तक कि उसका स्थान व नाम भी नहीं —

---

* जन्म नीच कहिये नहीं जो करम उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय॥

फर्महि ब्राह्मण, फर्महि क्षत्रिय, फर्महि वैस, सूद्र, फुनित्रिय ।
तुरसीये फरमीके नांव, निहफरमीके नांव न गांव ॥ "

अत वे शूद्र, स्त्री कोई भी हो ' राम ' के भजनका अधिकारी समझते थे। वे समाजमे फैली जन्मसे पडित और जन्मसे शूद्रकी प्रथाका विरोध करते है। एक ही परमात्माने एक ही प्रकारसे उन सबको बनाया है, तब फिर इस प्रकारका भेदभाव कैसे माना जा सकता है ?

यह क्यो सूद्र जु यह क्यो पांडे,
एक ही माटीके सब भाडे ।
एक ही चका एक ही गारा ।
एक कुलाल उपावन हारा ॥

फिर मनुष्य तथा प्राणियोंके उपयोगके लिए परमात्माने जो वस्तुएँ बनायी हैं वे भी ब्राह्मण और शूद्रके उपयोगमे कोई अतर नही रखती है और न बाधा ही देती हैं। पशु घास, पक्षी फल खाते हैं। ये मनुष्यसे भिन्न हो सकते है किंतु ब्राह्मण और शूद्रकी रहन-सहन, खान-पानमे कोई अतर नही। तब फिर यह मनुष्यकृत कृत्रिम भेद व्यर्थ हैं। तुरसी कहते हैं —

ज्यूं जल भरन गयीं जु मिलि, ऊंच नीच सब नारि ।
जल कै भेद कोऊ नहीं, यह दुजि यह जु चमारि ॥

अत वे सभी कृत्रिम और दोपमुक्त सकीर्णताकी ओर ले जानेवाली और भक्ति व साधनामे व्यर्थकी भीति खडी करनेवाली बातोका समूल विरोध करते थे। इस प्रकारकी बाते न केवल उस समयकी, वरन् सर्वकालीन समाजमे प्रचलित रहती हैं। अत उनके आक्षेप केवल एक निश्चित कालके लिए ही सीमित नही हैं।

इसी कृत्रिमतासे सयुक्त करनेवाली और तत्त्वसे दूर ले जानेवाली प्रवृत्तिके कारण तुरसी शुष्क पढाई-लिखाईको भी विशेष महत्त्व नही देते, और न सच्ची भक्तिसे हीन, आत्मशुद्धिसे दूर पूजा, दान, जप, तप आदिको ही वे योग्य समझते हैं। वे कहते है —

कहा विविधि व्याकरण पढ़े रे ! का पढ़े वेद पुरान ।
तन मन कौ मल ना मिटै, बिना भजे भगवान ।
का जप, तप तीरथ किये, का पूजा, ब्रत दान ।
सब परिहरि हरि नाम ले, साधि सुदृढ़ गुरु ग्यान ॥

अत स्पष्ट है कि तुरसी असत्यपर आश्रित सामाजिक प्रवृत्तियोको हानिकारक समझते थे और समाजके अतर्गत शुद्ध और सत्यताके आधारपर भक्तिकी ओर बहता प्रेमसे ओतप्रोत निर्बंध जीवन ही तुरसीका लक्ष्य था, इसीको वे समाजका शाश्वत धर्म समझते थे।

—०—

७

तुलसीका काव्य

कविताका क्षेत्र कितना व्यापक है इस तथ्यका अनुमान हम संपूर्ण काव्य लक्षणों और काव्य-विशेषोंके विस्तारसे ही कुछ लगा सकते हैं। कविता मानव अनुभूतियोंकी भावमय और प्रायः संगीतमय प्रकाशन है। अनुभूतियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती हैं। विशाल विश्वके बढ़ते अनुभवोंके साथ सागरकी असंख्य लहरोंके समान ही हमारे हृदयोंमें न जाने कितनी अनुभूतियाँ जाग्रत होती हैं। वे वेदनात्मक भी होती हैं और आनंदात्मक भी। उनका नाम देना और विश्लेषण करना असंभव है और अस्वाभाविक भी। फिर नामकरण और विश्लेषण मात्रसे ही हम उन्हें एक दूसरेसे पृथक् भी नहीं कर सकते। करुणा और वेदनामें भी आनंद है और एक अवस्था तो यह होती है जब कि संसारका प्रत्येक अनुभव हृदयपर अपना आनंदमय प्रभाव ही डालता है। यही अवस्था संतोंकी होती है। अतः संतोंका काव्य हम अपने काव्यशास्त्रके बनाये नियमोंसे नहीं वरन् हृदयकी संवेदनशील कसौटीपर ही जाँच सकते हैं। हृदयको प्रभावित और द्रवित करना ही उसका प्रमुख लक्षण है।

यह तो हुआ काव्यके मूलके संबंधमें। अपने भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए भी वे बनाये नियमोंसे आबद्ध नहीं। काव्यका सौष्ठव कलात्मक अभिव्यंजनासे संबंधित है किंतु, कितने व्यक्ति तुतली और टूटी भाषामें बोलनेवाले शिशुओंके भाव-प्रकाशनमें कलाका स्वरूप देखते हैं फिर भी हमें जो विशेष आनंद उस कठिनाईसे प्रकाशित अपरिष्कृत शब्दावली द्वारा शिशु अनुभूतियोंमें आता है वह अन्यत्र नहीं। प्रकाशनकी सरलता और स्वाभाविकता ही महत्त्वकी वस्तुएँ हैं। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि उनका अपूर्व प्रकाशन कुछ विशेषता रखता है वरन् यह कि वे प्रकाशनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। उसकी ओर उनका प्रयास ही नहीं। यही बात कभी-कभी संतोंकी वाणीमें स्वाभाविक काव्य भर देती है क्योंकि काव्यकी सुंदरता तो स्वाभाविक और निष्प्रयास अभिव्यंजनामें ही है जैसा कि आचार्य बा० श्यामसुंदरदासने कहा है[1] —

जब कविकी भावनाएँ एकमुख होकर जाग्रत हो उठती हैं, तब कविका हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारोंके रूपमें प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यंजनाके लिए न कविकी ओरसे प्रयत्नकी आवश्यकता है और न कोई बाहरी रुकावट ही उसे रोक सकती है।

---

१ गोस्वामीजीका काव्यसौंदर्य नामक लेख— कल्याणका रामचरितमानसांक.

सतोका काव्य भी आनदकी अलौकिक भावनाओसे एकमुख होकर जाग्रत होनेपर प्रस्फुटित होता है। अत वह भाव-ही-भाव होता है। एक कविका जहाँपर कलात्मक प्रकाशन उद्देश्य रहता है, वहाँ एक साधक सत केवल भावको व्यक्त करनेके लिए आकुल है। फिर उसका प्रकाशन भी इसलिए और कठिन होता है कि वह अनुभूति अलौकिक होती है। अत सत प्राय कविका उद्देश्य न रखनेपर भी कवि, और उनकी रचनाएँ कलाहीन होनेपर भी काव्य हैं।

सतकाव्य ससारके प्राय सभी साहित्योंमे किसी-न-किसी रूपमे प्राप्त होता है। इसका रूप अधिकाशत आध्यात्मिक काव्यधारा (Mystic poetry) के रूपमे मिलता है। ससारकी केवल कलान्वेषी प्रवृत्तिको इसमे काव्य भले ही न मिले, किंतु अनुभूतिका जहाँ तक सबध है, यह काव्य अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। यही नही इस प्रकारका काव्य उच्च और प्रभावशील समझा जाता है। बाइबिल, इजील, कुरान, सूफियोकी वाणियाँ तथा भारतीय ऋषियो एव सतोका वाङ्मय इसी प्रकारके काव्य हैं। सेण्ट आगस्टीन, रुज़ब्रोक, सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी आदि इसी कोटिके साधक कवि हैं।

"भारतीय निर्गुणी प्रेममार्गी सत उन आत्माओमेसे थे जो कि काशीके दिग्गज पडितोकी जातिके नही, वरन् जिनकी समताके मध्ययुगके युरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेयर वाक्स, थामस ए केम्पिस और सेट थेरेसा हैं।"

[हजारीप्रसाद द्विवेदी "हिंदी साहित्यकी भूमिका"]

इनमे भी साधनात्मक प्रेम असीम सौंदर्यमयी सत्तामे था। भारतीय निर्गुणी सत उस प्रेममयी सत्ताको पूर्ण रूपसे देखते थे। जैसा कि टैगोरकी (One hundred poems of Kabir) "वन हन्ड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर" की भूमिकाके निर्गुणियोपर कहे गये निम्न उद्धरणसे प्रकट है –

"उन्होने आध्यात्मिक रूपसे उसे स्पष्टतया देखा और पूर्णतया अनुभूत किया, इसी प्रकार जिस प्रकार कि नारविचके जुलियनने जैसे कि सूसोके द्वारा देखी गयी ज्योति, रॉलेके द्वारा सुना गया सगीत, सीना गुफाकी सेट कैथेराइनको भर देनेवाली स्वर्गीय सुगन्धि और सेट फ्रांसिस और सेट टेरेसाके द्वारा अनुभूत शारीरिक घाव (थे)"§

---

§ "They verily saw and fully felt him spiritually as Julian of Norwich, , as light seen by Suso, the music heard by Rolle, the celestial perfumes which filled St. Catharine of Siena's cell, the physical wounds felt by St Francis and St Teresa" [from introduction to One hundred Poems of Kabir]

अनुभूति प्रकाशन

इसी प्रकारकी अनुभूतिका प्रकाशन भारतीय निर्गुणोपासक और निरंजनी संतोंके काव्योंमें है। संसारसे वैराग्य साधना और कठिन नियमोंके उपदेशोंके साथ साथ इनमें प्रेम और विरहके मधुर और हृदयद्रावक गीत हैं। इन गीतोंमें सांसारिक कुत्सित प्रेमकी चर्चा नहीं है और न विरह ही उस प्रकारका है। यद्यपि प्रेम और विरह सांसारिक रूपमें विशुद्धताके वातावरणमें अतीव सौन्दर्ययुक्त तथा उन्मेषकारी है किन्तु संतोंका प्रेम और संतोंके विरहकी बात ही और है। यह प्रेम परमात्माके प्रति है जिसके परिणामस्वरूप भक्तमें विनय और दीनताकी भावना दिन-दिन बढ़ती है। तुरसीके निम्नलिखित पदसे हम इसका अनुमान लगा सकते हैं:—

मन मेरो दीन भयो गुन गावत।
घरी घरी पल ही पल छिन छिन सुमिरत ही सचुपावत।
आतुरता तजि धरम धरत उर, बाद विवाद निसी बिसरावत।
प्रेम प्रीति अनुराग सहित नित पुलकनि उमगि उरज ज्यूं आवत।
श्रवन सुनत कीरति हरि बाबा नैनन निज सरूप निरखावत।
रसना रटत नाम पिउ केरो निस दिन राम रिझावत।
होम जतन तप तजि जगकी जुगति बिचारि भगति चित लावत।
तुरसीदास प्राणपति आगे छन छन में सिर नावत।

उनका विरह भी परमात्माके आत्मसात् करनेमें जो विलंब है उसीसे जनित विह्वलताके रूपमें है। विरह यों ही एक पवित्र और उरविदारक अवस्था है फिर विश्वात्मासे इन पवित्र आत्माओंका विरह तो और भी विशाल और पवित्र है। उसमें वेदना भी व्यापक है। अतः इस अनुभूतिसे प्रसूत कविता प्राय प्राण और रग-रगमें समा जानेवाली होती है। तुरसीका एक विरह गीत इस बातको प्रकट कर देगा —

हरि बिनु ए दिन जात दुखारे।
सकल सिंगार सेज सुख त्यागे जा दिन ते गये प्यारे। टेक।
सुनि री सखी सावन रितु आई बरसत सबै घन कारे।
हमरे तन मनहुँ नहिं उलहत विरह अगिनि के जारे।
कासूं कहूं कौन यह मानै अंतरि करवत सारे।
मनही मनहि बिसूरि बिरहिनी मुरछि नैन जल डारे।
आरतिवंत आस चातिग ज्यौं रटत रैनि पुकारे।
जन तुरसी प्रभु प्रीति जानिकै जन सौं आनि मनारे॥

काव्यके दो रूप

इस प्रकार सतोका प्रेम और विरह वह है जो कि स्वच्छ और पवित्र आत्माएँ, श्वेत प्रकाश और आनदमय सत्ताके सामीप्यके लिए आकुल होकर अनुभव करते हैं। उनमे गहरा काव्य, विशालता लिये हुए तीखी सच्ची अनुभूतियोका समावेश है। उन गीतो व साखियोंके अतर्गत निरपेक्ष आनदकी धारा अजस्र रूपमे वहती है जिनमे मग्न होनेका अवसर हमे विना कठिन साधनाके ही थोडा-बहुत मिल जाता है। यह काव्य हमे दो रूपोमे मिलता है। प्रथम तो आनदको अनुभव करते-करते सगीत लहरीमे प्रस्फुटित हुए सहज भावमय गीतोके रूपमे और दूसरे उस आनद-की प्राप्तिके हेतु समुचित साधनोको वतानेवाले, वाणी व साखियो आदिके रूपमे प्रवाहित, विशुद्ध उपदेशोंके रूपमे। इन दो स्वरूपोकी ओर 'वन हण्ड्रेड पोयम्स ऑफ कवीर (One hundred Poems of Kabır) की भूमिकामे सकेत मिलता है —

"परमात्माकी ओर प्रेममय आराधनामे जाकर, और फिर उस शाश्वत रहस्यको दूसरोंसे कहनेके लिए ससारमे लौटकर दो क्रमोके वीचमे मध्यता (विचवानी) करना रहस्यवादी चेतनाका विशेष कार्य है, अतएव इस चेतनाका कलात्मक आत्मप्रकाशन अपने दो स्वरूप रखता है। यह प्रेमकाव्य होता है- किंतु प्रेमकाव्य जो प्राय उपदेश गर्भित आशयसे लिखा गया है।*

अत इन काव्योमे उपदेशात्मक सूक्तियोंके साथ प्रेमात्मक काव्यका सुदर समिश्रण है।

तुरसीका काव्य अधिकाशत उपदेशात्मक है। साखियोमे धार्मिक सिद्धात, भक्ति, योग, ज्ञान आदिके भिन्न-भिन्न अगोंके वर्णनमे कोरा उपदेश है। उनमे भाषा-सबधी कला भी कोई नही है और कही-कही तो वही वात प्रत्येक साखीमे और भिन्न-भिन्न प्रकरणोमें कही होनेके कारण पुनरुक्ति रूपमे जीको उवा देनेवाली लगती है। अत वे प्राय रूखे उपदेश ही लगते हैं किंतु उनमे सत्यताकी सूक्ष्म दृष्टि अवश्य आरपार व्याप्त है। वीच-वीचके कुछ प्रसगो जैसे सुदरि, सती, विर-

---

* As it is special vocation of the mystical consciousness to mediate between two orders, going out in loving adoration towards God, and coming home to tell secrets of eternity to other man, so the artistic self expression of this consciousness has also a double character It is love-poetry, but love poetry which is often written with missionary intention" [Introduction to Tagore's One Hundred Poems of Kabir]

इनि परचा सूक्ष्ममार्ग जीवन-मुक्त आदिमें उपदेशोंके बीचमें भी पवित्र अनुभवका आनंद है और इन स्थलोंपर भक्तके हृदय और आनंदोन्मुख मनके द्वारा अनुपम काव्य-स्रोत उमड़ा पड़ता है। इनका वर्णन अन्य प्रसंगोंमें हो चुका है, अतः यहाँ उदाहरण देना निरर्थक है। किंतु इनके पद तो अधिकांशतः रससे स्निग्ध और मधुर भावोंसे सिंचित हैं।

काव्यके तीन मुख्य क्षेत्र हैं — प्रकृतिका बाह्य संसार, मानव व्यापारका संसार तथा आंतरिक और आध्यात्मिक अनुभूतिका संसार। तुरसीका विषय स्वभावतः तीसरा ही है। उनके काव्यको हम स्वानुभूति-निरूपण करनेवाला ही कह सकते हैं। इसमें प्रकाशनकी स्वाभाविकता और अनुभूतिकी तीव्रता होनेसे काव्यका सुंदर आनंद अंतर्निहित है। "बिनती" के प्रकरणमें एक स्थलपर तुरसी अपनी दीनताका प्रदर्शन करते हुए परमात्माके सम्मुख हृदय खोलकर रख देते हैं।

मैं अवगुनकी रासि हूँ तुम गुन करता राम।
काढि कलंक प्रभु कृपा करि, जीवहिं देहु बिश्राम ॥

पुन—

काहूके बल भजनको काहूके बल ग्यान।
हमरे अन्धे की लकुट तुम ही कृपानिधान ॥

इस प्रकारकी दीनताकी भावना परमात्माकी विशालताके अनुभवके साथ-साथ होना स्वाभाविक ही है। अतः जिस देहके साथ सम्पर्क होनेसे उन्हें विशालताके बीच व्यवधान पड़ता है उससे संपर्कवाले जीवनको वे तुच्छ समझते हैं और अंतमें 'मरण' को अपनाते हुए वे कहते हैं —

मरन मोहि मीठा लग्या नहिं जीवन सूँ नेह।
तुरसी मरिये हरि प्रेममें तौ बहुरि न धरिये देह ।

यों तो भक्तको संसारकी असारताका क्षण प्रतिक्षण भान होता रहता है और वे जीवनकी प्रत्येक घड़ी प्रत्येक पल बीतनेपर सचेत होते रहते हैं किंतु वृद्धावस्था आनेपर तो न केवल साधक संत वरन् साधारण जन भी जीवनकी असार्थकताका अनुभव करने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें आत्मा भगवद्भजनके लिए आतुर हो उठती है। इसी प्रकारकी-सी आतुरता हमें निम्न पदोंमें छिपी मिलती है —

पल पल गोविंदगुन जनम बीतो जाय।
बहुर्यो कब गाइहै अवधि बीती जाय ॥

— — — —पृ० १६१ (८ वाँ पद)

संसारके प्रति उदासीनताका भाव निम्नलिखित मोरे पद भरमें बिखरा मिलता है —

मन मीत हमारे, यहाँ नहीं थिराऊ कोय रे।
चला जाय सब लोय रे।
सक बधी राजा ह्वै बीते, राम भजन बिनु गए जु रीते।
हाथ झुलावत सोय रे
यहै जानि जग ममत निवारो, रहौ नाम रत होय रे ॥ १ ॥
रावन कुम्भकरनसे केते, या भुवि ऊपर भए जु तेते
काहे न देखौ जोय रे।
मिथ्या तन धनको ग्रव करि करि वै अत गये है रोय रे ॥ २ ॥
कुरु पाडौ जादव जु जहाँ लौं, तन धरि धरि आये जु तहाँ लौं।
तीन भुवन सब लोय रे।
सोई सोई यन मृत्यु नषाये, बच्या जु विरला कोय रे ॥ ३ ॥
दिन दिन यह बीतत तन तेरो, कहा करि रह्यो अध अरुझेरो।
करम वासना धोय रे।
तीवर होय भजि राम आपनो जो चाहै सुष सोय रे ॥ ४ ॥
मन गहि पवन अपूठा आवौ, कूरम लौं उलटि कै समावौ
अपनें ही उर थिर होय रे।
कीट भृग ह्वै कै लागा रहो वा साहिब सूं सोय रे ॥ ५ ॥
यह सब ही सतनकी बानी, श्रुति स्मृतिहुन यहै बषानी।
सबकौ निश्चौ सोय रे।
जन तुरसी ब्रह्म गलतान रहौ, ज्यूं बहुरि बिछोह न होय रे ॥६॥ मन

ससारकी असारताका यह भास साधनाके कारण है किंतु बढती वृद्धावस्थाके कारण भी इस प्रकारकी अनुभूति जाग्रत होती है। अत इस प्रकारके काव्यका सबध सपूर्ण मानव-जीवनसे है और अधिकाश लोग यही अनुभव करते हैं। इसी प्रकारका करुणापूर्ण और वेदनात्मक निम्न पद है —

ससार सरायमें जियरा, काहे कूं करत सनेह।
राति बसे दिन उठि चलैगो, तू फिरौ जु करि यह ग्रेह।
जाहि कहत तू मेरे मेरे, मेरे तेरे सब सोय
घरे ही रहैंगे धरनि ऊपरें, सगि न चलि है कोय ॥ इत्यादि

इस प्रकारके पद जीवनकी अनेक अनुभूतियोको उकसानेवाले है। जीवनकी कटुता, दुष्टोका ससर्ग और आत्मीयोसे विछुडन आदि भावनाएँ एक साथ झकृत हो उठती हैं। ससारको एक सरायके रूपमे देखना वृद्धावस्थाके समय जब कि मनुष्य पल-पलमें उसे त्यागनेको उद्यत है, कितना मनोवैज्ञानिक है! अत इन पदोमे अनभूतियोकी स्वाभाविक क्रीडाके साथ-साथ सच्चा काव्य है। " ससार सरायमे

पियरा काहे यूँ करत सनेह। और उसके पश्चात् आनेवाली पंक्ति इतनी वेदनात्मक है कि हृदय उससे भरा ही रह जाता है और सहसा यह भाव जिससे निकलनेका नाम नहीं लेता।

इस प्रकारकी अनुभूतियाँ यत्र-तत्र तुरसीके पदोंमें बिखरी हुई मिलती हैं। किसीसे प्रेम करनेपर और फिर उसका परिणाम अनुकूल न होनेपर जो ठेस लगती है उसका तुरसीके एक उपदेशात्मक पदमें कितना सजीव-सा वर्णन है —

काहू सौं नेह न करिये हो।
नेह किये निबाहे रहौ बिन पावक जरिये हो।
झूठी जगकी मिलनता मिलि बंधन परिये हो।
बंध काटि निरबंध होइ काहे न बिचरिये हो।
यहे सुबिधि बिचारीये यह पंथ करीये हो।
यह माया फंदरूप है तहाँ पाँव न धरीये हो।
अंत कोउ थिरता रहै देखत सब परीर हो।
जन तुरसी तन मन जलधिकै मिल नाँव उधरीये हो।

तुरसीकी सहानुभूति व्यापक और उच्च थी। साधारण प्राणी यदि पथभ्रष्ट है तो विशेष चिन्ताकी बात नहीं क्योंकि परमात्मा तक पहुँचनेका मार्ग बड़ा सूक्ष्म है और उससे अनुराग बड़ा कठिन है। मायामें सभी लिप्त रहते हैं और जीव तो मायाके वशमें है ही किन्तु जो नर सुर, साधु आदि सचेत हैं वे उसमें न फँसें। अतः उन्हें दुःख इन्हींका है —

जग चौरासी जीव जंतुको मोहि अँदेसो नाहि।
सुर नर मुनि जन पीर औलिया खलिल भये ता माँहि।

इस प्रकार भावनाओंका चित्रण हम तुरसीकी रचनामें पाते हैं।

किन्तु काव्य-रचना तुरसीका उद्देश्य न था। यहाँ तक कि जहाँ वे अधिक पठन पाठनकी निंदा करते हैं वहाँ ही वह शृंगार रसपूर्ण काव्यरचनावाले ग्रंथोंको भी भार समझते हैं—

जिन ग्रंथन माँही कथे नाना बिधि सिंगार।
तिनै बिचारकी मूढ़ता सौ तुरसी मानै भार।

तुरसीकी कथन-प्रणाली

लौकिक दृष्टिसे उनका उद्देश्य कलात्मक कविताके नितान्त विपक्षमें था। यही कारण है कि उनकी कवितामें हमें काव्यके बाह्यांग अथवा कला पक्षका अभाव मिलता है। जिसका उद्देश्य ही कविता न हो उसकी रचनामें कला ढूँढ़ना व्यर्थ है। हाँ इसपर भी यदि कविता मिल जाती है और रसका प्रवाह उपस्थित

है तो हमे तुरसीकी सहज काव्य-शक्तिका पता अवश्य चलता है। तुरसीके अकाव्यात्मक उपदेशोंके बीचमे भी हमे काव्यके छीटे अवश्य मिलते हैं। "उपदेश" के प्रकरणमे तुरसी कहते हैं—

सुबुधि भूमि जाको रिदौ, सबद बीज तहाँ बोय।
तुरसी उगि उदौ करै, कबहु न नृफल होय॥

इसमे रूपक बिना प्रयासके ही आ गया है। इसी प्रकार 'काल' के प्रकरणमे सुदरता व वैभवके विनाशका चित्रण बडी ही विशद व्यजनाके साथ करते हैं—

तुरसी जे सुदरि सुप भोगते अरु गजि न सक्ता कोय।
ते नयननि ते निकसि कै, श्रवणनि बसिगे सोय।

अर्थात् वे अब दृष्टिके विषय नही वरन् उनकी महत्ता हम केवल सुनते ही हैं

उदाहरणोकी छटा उपदेशोको अत्यत सुग्राह्य बनाती है, अत उपदेशात्मक काव्योंमे उदाहरण शैलीका प्रयोग अधिकाश मिलता है। दोहा छन्दमे रचे काव्योंमे उदाहरण और भी अधिक रूपमे पाये जाते हैं। तुरसीकी साखियोमे इनकी कमी नही है। "कुसबद" के प्रकरणमे कहते हैं—

तुरसी कुसबद का करै, जो बसहू होय दास।
परै समुद बिच बीजुरी, कहा जरावे तास॥

पुन —

साधू जन ससारमें ज्यों जल माँही चद।
काल जाल में नावहीं, कहा करै कोउ मद॥

एक चरणमे उदाहरण देकर तुरसी स्पष्ट कर देते हैं कि साधुकी सहनशीलता विशाल है। दूसरेमे वे सकेत करते हैं कि ससारमे साधुकी छाया रूप ही सत्ता होती है जिसको कोई भी हानि नही पहुँचा सकता। इन दोनो भावोंके समावेशके कारण उनकी कथन-प्रणालीमे काव्यत्व आ गया। इसी प्रकार "वैराग्य" के प्रकरणमे वैरागीके गृहत्यागकी उपमा "कचुकी" मे देते हैं —

ज्यूं कचुकी उतारि कै, शयन करै ससनेह।
तुरसी यूं हरि मिलन कूं, हरिजन त्यागै ग्रेह॥

इसमे जो सौंदर्य है, वह काव्यके प्रेरणासे नही वरन् भावके स्पष्टीकरणकी प्रवृत्तिसे ही आया है। इसी प्रकार वैराग्यके प्रकरणमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके वशीभूत अस्थिर मनका वर्णन कुछ शब्दोमे कितनी सुदरतासे करते हैं —

जाको मन है अबक अथीर, जैसे वायु झकोल्यो नीर॥

"वायु झकोल्यो नीर" मनकी द्विविधित अवस्था तथा आतरिक उथल-पुथलका वर्णन बडी उपयुक्तताके साथ करता है।

संत तुरसीकी सारी बातोंमें स्पष्टताके साथ-साथ काव्यके भी छींटे हैं। उनकी अनुभूति इतनी कोमल तथा दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वर्णनमें अनपेक्षित भी काव्य आ ही जाता है।

देखत कूरत देखिये सुख बिलसत संसार।
तुरसी तेऊ जायगा ज्यौं धूमके पहार॥

धूमके पहार कितनी शीघ्र उठते हैं और कितनी शीघ्र विलीन हो जाते हैं! ऐसा ही संसारका विलास है। इसी भाँति "असाधु" जनोंकी सुधारके अनुपयुक्त प्रकृतिका वर्णन तुरसी अन्योक्तिके रूपमें प्रभावात्मक ढंगपर करते हैं —

दूधै नींब सिचाइये मधि मिष्ठान मिलाय।
तुरसी मन क्रम बचन तऊ कडवापन नहिं जाय॥

सांसारिक द्विविधाका वर्णन करना कठिन है। संसारकी माया सब प्रतिबिंब मात्र है और मनुष्य व्यर्थ ही कष्ट उपार्जन करता है। द्विविधा के प्रकरणमें तुरसी लिखते हैं —

तुरसी मुकुर निवर महीं धूमपति कियौ प्रवेस।
अपनी छाँई देखिकै करि करि मुवौ कलेस॥

तुरसीके उपदेशोंमें उपमा उत्प्रेक्षा रूपक और अनुप्रास आदि भी बीच बीचमें शोभा देते हैं किन्तु उन सबका उद्देश्य अपनी अनुभूति और अपने उद्देश्यको स्पष्टतया प्रभावशाली ढंगपर कहना ही है। देहकी नश्वरताका वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

बिनसि जाय भीजे कागद लौं अरु ज्यूं बारू-गेह।
पाइ दुलभ पुनि होय छिनक में अंत देहकी येह॥

पृ १४८ (१ पद)

कागजका घुलना और बालू गृहका ध्वंसना नश्वरताको स्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार ध्यानकी स्थिरता का वर्णन करते हुए तुरसी कहते हैं —

हिरदै कँवल थिर थापिके रहो अचल ज्यूं होय।
ज्यूं निवाय दीपककी बाती नीम न इत उत होय।

वायुरहित स्थानमें दीपककी लौ एक धुन और तन्मयताके साथ मानो वर्णनकी ओर ध्यान दिए बिना रहती है यही बात ध्यानमें होना आवश्यक है। ध्यानके लिए विशद उदाहरण है।

साथ भागीभूत प्रकरणमें तुरसी एक स्थानपर गर्वसे उपजनेकी निंदा करते हैं। परोपकार, धीम आदि गुणोंसे हीन ऊँचाईका कोई महत्व नहीं है। इस भाव को "अन्योक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं —

ऊंचे बौबू घरनि पर, भुजंगनके असथान।
तुरसी नीचे नीपजै ईख अन्न अरु पान ॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि अर्थालकार आदि तुरसीकी रचनामे भावके सगी होकर आते हैं और उनमे भावोका उत्कर्ष है। "आरति" पूर्वक सुमिरनके विना भगवान दया नही करते जैसे कि बच्चेको सोते देर हो गयी किंतु विना जगकर चिल्लानेसे माता-पिता उसे दौडकर गोद नही लेते हैं। तुरसी कहते हैं —

ज्यूं सिसु सोवत भई बहु बारा। आरति विन न कोउ बूझनिहारा।
जवहीं जागि उठै विलषाई। तबही उछग लेत पितु माई।

इसी प्रकार सतोको मिलनेसे क्या तृप्ति होती है और क्या-क्या भावनाएँ जाग्रत होती हैं इसका वर्णन तुरसी रूपकके सहारे करते हैं —

शीतल सत मिले सुषदाता। मानू दरीयो आप विधाता।
दया मया करि द्वारे आये। पतित जननके पाप नसाये।
सूती सरधा वई जगाय। भगति अकूर उवै कीयो आय।
अमृत कथा घन लों वरसाई। तन मनकी सव तपनि न साई।
जन तुरसी धनि धनि वैसत। मानूं मिले आप भगवत ॥

पृ ३७३ (पद ५)

इस प्रकारके सुदर उदाहरण और सूक्तियाँ स्थल-स्थलपर हमे तुरसीके काव्यमे मिलती हैं और इन दोहोमे जहाँपर तथ्यपूर्ण उपदेश हैं वहाँपर कथनमे अपने आप आयी सूक्ति उपदेशको विशेष ग्राह्य वना देती है, यद्यपि हमारा ध्यान वहाँपर भावपर ही केंद्रित रहता है जो कि कहनेवालेका भी लक्ष्य होता है। भाव मुख्य वस्तु है और कथन-प्रणाली गौण। तुरसीने मुख्य वस्तुका ही ध्यान रखा है और दूसरी वातसे वे सर्वथा उदासीन जान पडते हैं।

तुरसीके काव्यमें रस

काव्यमे शैली या अलकार हो या न हो किंतु रसका होना आवश्यक है। "वाक्य रसात्मक काव्यम्" के अनुसार रस ही कविताका मुख्य अग है। कविका प्रयत्न किसी एक रसके लिए प्रधान होता है और अन्य रसोके लिए गौण। प्रबध काव्य लिखनेमे कविको रस परिपाकका विशेष अवसर रहता है और उसमे शृगार, वीर, करुणा आदि मुख्य रसोका प्राचुर्य रहता है। सतोंके काव्यमे जो रस हम प्रधान-रूपसे पाते हैं वह 'भक्ति रस' है। इसमे ससारके सुखोंके प्रति उदासीनता और परमात्माकी भक्तिमे तल्लीनता रहती है। जहाँ तक ससारके प्रति विरागकी भावना है। वहाँपर हमें सांसारिक दुःखके साथ-साथ रोग आदिका वीभत्स चित्रण भी मिलता है। अत वैराग्य-भावना-प्रधान शात रसके साथ-साथ बीभत्सके भी दिग्दर्शन

होते हैं। तुरसी देहके प्रति विरागकी भावना उत्पन्न करानेके लिए कहते हैं कि शरीरकी दशा बड़ी दुर्गन्धियुक्त है और उसमें कुछ भी पवित्रताका मूल नहीं है —

> द्वार द्वार दुर्गंध चुवै मल मूत्रकी जु खानि।
> तुरसी सुच सपनेहु नहीं सो देही मति जानि॥ (बीभत्स)

यह तो हुआ शरीरके प्रति वैराग्यकी भावनाके लिए। संसारसे वैराग्यकी भावनाके लिए संसारके सुखोंकी नश्वरता झूठे जंजालमें लिप्त मनपर दया आती है और इसको देखकर आत्मा द्रवीभूत होती है। अतः ऐसे स्थलपर शोक भाव भी वैरागमें सहायक होकर आया है —

> संसार सरायमें बिवरा काहे कूँ करत सनेह।
> राति बसे दिन उठि चालैगो तू फिरै जु करि यह प्रेह।
> बाहिर बहुत तू मेरे मेरे मेरे तेरे सब लोय।
> घरे ही रहेंगे बरजि ऊपरै संग न चिल हैकोय। इत्यादि (शांत)

तथा—

> मन मीत हमारे यहां नहीं विराम कोय रे।

आदि गीत (ये दोनो पद अन्यत्र उद्धृत हो चुके हैं) हृदयको द्रवित करके वैराग्यका संचार करते हैं।

पुनः सांसारिक विरागकी भावनाका संचार मायाके क्रूर और भयंकर तथा छलिया स्वरूपपर और भी प्रबल रूपसे होता है। इस स्वरूपर जिसका कि वर्णन मायाके प्रसंगमें हो चुका है जिसमें मायाकी क्रूरता प्रदर्शित है इसमें भयानक का आभास मिलता है जैसा कि निम्न पदसे स्पष्ट है। माया भयंकर है उसको तुरसी कहते हैं —

> डाकिनि मारीया रे, खायो सब जग खाय। (रौद्र)
> कोउ कोउ जन उबर्‌या जिन सुमर्‌या रघुराय।
> नव बेस करि मोहे प्रानी नाना भेष बनाय।
> सरपिनि संसारे सकल आपन मारै खाय। (बीभत्स)
> यह वरसत कै संग भई करि अनहीका रंग।
> मारे पुनि छाडै नहीं करि कीए सतभंग।
> पंडित गुनी सूर कवि दाता सुर नर मुनि जन वीर।
> सकल बिनासे कामनी काम कौवके तीर। (रौद्र)
> आदि अंत अबमति आराध्या परिहर पाँच पचीस।
> कहि तुरसी ते उबरिया जे साधू बिसवा बीस। (शांत)

इसमें भयानक रस शान्त रसका सहायक होकर आया है। मायाके नाटक स्वरूपकी ओर तुरसीने संकेत किया है किन्तु इन सब प्रवाहों और धाराओंके बीच

जिनमे कि बीभत्स, करुणा, भयानककी सहायक धाराएँ तथा प्रवाह सम्मिलित हैं, शात रसका अविरल धीमा और शाश्वत प्रवाह है। निम्न पदमे भक्तिकी उमडती धाराके साथ यही प्रवाह प्रवाहित है।

काहे कूं गहर करत गुन गावत।
घरी घरी पल ही पल प्रानी, हरि बिनु जनम सिरावत।
पाँच तीन गुन सानि सज्यो घट बहु दिन लगे बनावत।
बिनसत बेर कछू नहिं लागै, फिरि पीछे पछितावत॥
ज्यूं तरवर के पात जात झरि, बहुरि न डारी आवत।
यूं तन जाय, ध्याय त्रिभुवनपति, सकल सत समुझावत॥
यह तेरो अवसर यह तेरी बिरिया, यह समयो फिरि नावत।
जन तुरसी भजि राम रैनि दिन, सुषमहिं सुरति सँभावत॥

इसको विशेष स्पष्ट करते हुए तुरसी ससार और भक्तमे अतर दिखलाते हैं। भक्त और ससार एक नही हो सकता है। एक ऊर्ध्वगामी है, दूसरा अधोपतनकी ओर उन्मुख है। ससार मायाकी ओर दौडता है और भक्त इसके विपरीत परमात्माको पानेके लिए व्यथित है। एक पदमे तुरसी कहते हैं—

भाई रे, जन जग नाहिन मेला। भिनि रहै पानी जिमि तेला।
जन जु रमै उत्तर कौ अनुदिन, जगु दच्छिन को जाई।
यूं अन्तराव जगत अरु भगतहि, कैसे मत जु मिलाई।
जन पारस जग पाहन रूपी, जन चदन जगबसा।
जन जु हस जगु काग कुबुद्धी, दुहून अन्तर ऐसा॥
जन दिन सम जगु रैनि पटतर, जन कचन जगु काँचा।
जन यमृत पीवै जग विषरसभोगी मिलन न मनसा वाचा॥
जन राता अभिअतर पियसूं, जगु माया लपटाना।
तुरसी जन जु मिले पद माँहो, जगु जम हाथ बिकाना॥

यह वर्णन जो कि भक्त और ससारका अतर दिखलाता है, बडा सुदर है और इसके साथ 'Shakespeare' के एक छन्द 'A Madrigal' का सस्मरण हो आता है जिसमे उन्होंने वृद्धावस्था और युवावस्थाका अतर दिखलाया है जिसका अर्थानुवाद यो है—

झुकी हुई वृद्धावस्था और युवावस्था साथ साथ नहीं रह सकतीं।
यवावस्था प्रसन्नतासे भरी हुई है वृद्धावस्था चिन्तासे
युवा ग्रीष्मके प्रभातके समान है और वृद्धापन शीत काल-सा।
युवा उष्णकालके समान वीर है किन्तु बुढ़ापा हेमन्त-सा हीन
युवा विलाससे पूर्ण है किन्तु बुढ़ापाकी साँस ही थोडीसी,

जवानी स्फूर्तिमय है किन्तु बुढ़ापा पंगु है।
जवानी गरम और सतृषित है बुढ़ापा निर्बल ठंडा
युवा स्वच्छन्द किन्तु वृद्धापन संयमी।
ऐ बुढ़ापा मैं तुमसे घृणा करता हूँ और जवानी !
तेरी तो मैं पूजा करता हूँ
ऐ मेरे प्यार ! मेरा प्यार युवा है वृद्धापन !
मैं तुझे ललकारता हूँ।
ऐ सुन्दर भेड़ चरानेवाले जल्दी कर
क्योंकि तू बहुत देर ठहरता है !!†

इन दोनोंमें भाव साम्य कोई नहीं है वरन् वर्णनकी शैली एक प्रकारकी है और उसका उद्धरण इस साम्यके अतिरिक्त और कोई तुलनात्मक विचार नहीं रखता। किन्तु जिस प्रकार एकमें युवावस्था और वृद्धावस्थाका अंतर दिखाया गया है उसी प्रकार तुलसीका पद संसार और भक्तके उद्देश्य तथा रहन-सहनमें अंतर बतलाता है, दोनोंको भिन्न विशिष्ट अंकित करता है अतः दोनों (संसार, भक्त) का एक साथ रहना सम्भव नहीं।

भक्तिका दूसरा अंग

यहाँ तक तो शान्तरसका एक अंग हुआ अर्थात् यह भक्तिका विरागात्मक स्वरूप था। इसमें संसारकी नश्वरता दुख-भयानकता आदिका वर्णन कर उससे अनुलिप्तताको दूर करना ही उद्देश्य था। इसका दूसरा अंग अनुरागात्मक है। पहला तो उद्देश्य-निश्चितिके लिए, आत्मशुद्धि तथा ज्ञानके लिए है किन्तु दूसरा परमात्माकी ओर अग्रसर होनेके लिए है। पहला विरागसे पूर्ण था किन्तु यह भक्ति

---

† Crabbed Age and Youth cannot live together
Youth is full of pleasance, Age is full of care;
Youth like summer morn, Age like winter weather
Youth like summer brave, Age like winter bare
Youth is full of sport, Age s breath is short,
Youth is nimble, Age is lame
Youth is hot and hold, Age is weak and cold
Youth is wild and Age is tame —
Age, I do abhor thee Youth I do adore thee
O ! my love is Young, Age I do defy thee
O sweet shepherd, hie thee,
For me thinks thou stay'st too long.
(Shakespeare A Madrigal)

रस अनुरागसे सराबोर। विरागात्मक शान्त एक पथका निर्माण करता है, किंतु अनुरागात्मक भक्तिरस-प्रवाह साधकको उस पथपर आगे ले जाता है और भक्तिरसके इस स्वरूपमे ही महारसकी पूर्ण प्रधानता है। फिर अनुरागका रस श्रृगार रस है। अत जहांपर प्रथममे बीभत्स, रौद्र, करुण आदि रस सहायक होकर आये थे, वहाँ यहांपर हमे प्रेम-भावनाका ही प्रबल किंतु अलौकिक प्रवाह इसमे दिखायी देता है। इस अगमे भक्तिकी धाराका भी प्रवाह प्रशान्त (सागर) सा गभीर हो जाता है।

सूफियोके माधुर्य भावने भारतीय निर्गुणी सतोको विशेप रूपसे प्रभावित किया है। तुरसीमे भी हम वे भाव पाते हैं। जब आत्मा परमात्माका पति-पत्नीका-सा सबध स्थापित हो गया, तब उसका पाना तो केवल 'प्रीति' से ही सभव है। अत तुरसी कहते हैं—

प्रीति बिना हरि किन हूं न पाये।
केऊ जटा भगवें करि वस्तर तीरथ कूं उठि धाये।
बिना भजन बिसवास बाहिरे फिरि फिरि प्रान पिराये॥ १॥
केऊ जाय पुरिनमें बंसे, बहुतक कष्ट उपाये।
पावक मांही उरध पांव करि, लै लै सीस झुलाये॥ २॥
केऊ लुचित मुडित पुनि केऊ, केउनि कब षनि षाए।
केऊ जाय गुफा वनिबासे पै, प्रीति बिना पछिताए॥ ३॥
प्रीति बिना सबही मत काचे, बेब पुराननि गाये।
तुरसी प्रीति करी जिन पीय सूं, ते पीय मांहि समाये॥ ४॥

फिर वह 'पीय' है कैसा ? वह सगुण नही, निर्गुण है। उसका अलौकिक स्वरूप वर्णन करते हुए तुरसी 'पीव पिछाननी' के प्रकरणमे कहते है—

तुरसी पानीमें बडै नहीं, पावक सकै न दाहि।
पवन उडाया ना उडै, सो पीव हमारा आहि।

अब इस प्रकारके प्रियतमसे मिलनेके लिए आत्मा कितनी उत्सुक है, इसका भी वर्णन हमे तुरसीके निम्न पदसे मिल जाता है। जिस आत्माने ससारकी असारताको समझ लिया है और अपना प्रियतम भी पहचान लिया है उसकी उत्सुकता अवर्णनीय है। तुरसीके निम्न पदमे उसकी झलक मिलती है—

जगमग जोति जहां चलि जाऊं।
या झूठे जग माहे रचिकै, काहे कूं भरमाऊं।
यत उसकी बिलगना निवारौं, सरगुन सग नसाऊं।
चित चेतन तुरगम चढ़ि निसिदिन, निरगुन घर पहुंचाऊं।

जहाँ जरा जमको भय नाहीं निरभै होय रहाऊँ।
जन तुरसी अपने प्रभु कूँ मिलि जुग जुग सुख बिलसाऊँ॥

यह तो प्रारंभिक अवस्था है जब कि आत्मा केवल उस सर्वानन्दकी कल्पना कर उसकी प्राप्तिके लिए प्रतीक्षा करती है। यह अनन्यता भी शृंगार रसका एक अंग है। शृंगार रसके जो दो अंग वियोग और संयोग माने गये हैं, तुरसीकी कविताओंमें उन दोनोंका पूर्ण प्रवाह है। आत्मा जब परमात्मासे मिलनेकी ओर अग्रसर होती है उस समय वह उस विभुसे मिलनेको व्याकुल रहती है। यही भाव तुरसी का है जो कि शृंगार वियोग पक्षमें आकर पूर्ण होता है। आध्यात्मिक विरह और व्याकुलताका अनुमान तुरसीके निम्न पदसे हो सकता है—

हरि बिनु मन नहिं बांधत धीर।
सोचत ही दिन जाय सखी री नैननि बरषत नीर॥
जा दिन तै हरि बिछुरे सजनी जल नहिं परत सरीर।
बिरह बिथा उर अंतरि मेरे, कोऊ न जानत पीर॥
इत यूं जाय बहुरि नहिं आवै जहाँ आनंद सुख भूरि।
संदेसोको आनि सुनावै अगम अगोचर दूरि।
अति आतुर ह्वै उमगि चल्यौ मन नेक न डोरत तीर।
जन तुरसी बिरहिन भई मिलता सायर सिन्ध कबीर॥

कबीरको तुरसी परमात्माका अंश और आराध्य देव मानते थे क्योंकि वे परमात्मासे एकाकार हो गये थे। अब उपर्युक्त पदमें हमें काव्यांगके अन्तर्गत आये हुए उच्च कोटिके विरहके समान विरह मिलता है और यह सूर-वर्णित गोपियोंके विरह-वर्णनसे कम काव्यात्मक वेदना नहीं रखता। कविका यह विश्वास है कि जो सत प्रभुमें मिल जाते हैं वे लौटते नहीं अतः संदेशा कौन सुनावे?

प्रियतम कब मिलेंगे? वह क्षण कितनी दूर है? एक विरह-व्यथितके लिए यह उत्सुकता स्वाभाविक है। तुरसीकी विरहिन आत्माको हम उसी प्रकार उत्सुक पाते हैं। वह ज्योतिषीसे यह बात जाननेके लिए आकुल है कि किस घड़ीमें प्रिय आवेंगे।

कोऊ बूझौ रे बांमणा जोसी कहि कब आवे मेरा राम।
बिरहिन झूरे रात दिन जिय नांही बिश्राम।
ज्यूं चात्रिग घनकं रटै पीव पीव करै पुकार।
यूं राम मिलन कूं बिरहिनी तरफै बारम्बार।
पतिबंती आरति करै पीव मिलनकी चाय।
पल पल जीवन जात है पीछे कहा करौगे आय।
अबला कूं सुख दीजिये अन्तरजामी आय।
तुरसीदास जन आपने बेर बर बलिजाय॥

इस वर्णनमे जो 'विरह वेदना' स्वाभाविक रीतिसे अकित है, जो कि अनुभूतिकी कल्पनासे नही, वरन् स्वय अपनी अनुभूतिकी तीव्रताके कारण है, वह रीतिकालके कवियोकी विरहजनित कामचेष्टाओ व अत्युक्तिमय वर्णनोंसे, जिसमे कि अनुभूतिकी कल्पना मात्र है, विशेष प्रभावोत्पादक है। फिर यह विरह परमात्माका विरह है।

विरहकी अवस्थामे विरहिनीकी नीद, भूख सब हर जाती है। उसे प्रियसे मिलनेके अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नही लगता है। तुरसी इसी दशामे निम्न पद कहते हैं —

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पीवको पथ निहारतां सब रैंनि बिहानी हो।
सब सषियन मिलि सीष दई मन एक न मानी हो।
बिन दरसन कल ना परै, जीय ऐसी ठानी हो॥ १॥
अग छीन व्याकुल भई, मुष माधुरी बानी हो।
अतरि वेदना बिरहकी, पीव पीर न जानी हो॥ २॥
ज्यूं चात्रिग घनकूं रटै, मछरी बिन पानी हो।
जन तुरसी पीव बिन मिले, सुध बुध बिसरानी हो॥ ३॥

उपर्युक्त पदमे विरहकी अवस्थाका वर्णन है। उस प्रियतमके वियोगमे अग क्षीण हो गया है, मुखसे वचन नही निकलते, नीद नही आती और सारी रात प्रियका पथ देखते बीतती हैं। बिना पानीके मछली जैसी विरहिणी आत्माकी दशा है। उसे कितनी आतरिक वेदना है उसको प्रिय नही जान सके, अन्यथा देर न करते। इस वर्णनमे बिना अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक ऊहा किये ही कवि अपनी स्वय विरह-वेदनाका वर्णन कर रहा है। अत इससे अधिक प्रभावशाली अन्य विरह-वर्णन नही हो सकते। फिर वह आगे एक पदमे हरिदर्शनके बिना अपनी आत्माकी व्याकुलता प्रकट करता है —

हरि बिन ए दिन जात दुषारे।
सकल सिंगार सेज सुष त्यागे, जा बिन ते भये न्यारे।
सुन री सखी सावन रितु आई, बरसि सबै बन पारे।
हमरे तन अजहूं नहि उलहत, बिरह अगिनके जारे।
कासूं कहूं कौन यह मानै, अतरि करवत सारे,
मनहीं मनहि बिसूरि बिरहिनी, मुरछि नैन जल ढारे।
आरतिवत आस चात्रिग लौं सारी रनि पुकारे।
जन तुरसी प्रभु प्रीति जानिकै, घनलौं आनि गलारे॥

इसमें पुनः विरहिणीका वर्णन है जिसने सम्पूर्ण सुख प्रिय-दर्शनकी आशासे त्याग दिये हैं। चातककी भाँति सारी रात वह 'पिय' की रट लगाये है। सावनकी ऋतु आयी और उसने सब वन-बागोंको तो हरा-भरा कर दिया किन्तु विरहाग्निसे झुलसी विरहिन आत्माको कुछ भी उल्लास नहीं। विरह इतना विषम है कि ऋतु विपर्यय कोई प्रभाव नहीं डाल पाता है। चाहे वर्षा आवे चाहे वसंत उसमें तो एक ही टीस चुभी हुई है। उसे तो मिलनेकी धुन है किन्तु फिर कभी-कभी अपने और परमात्माके बीचमें बड़ी दूरी देखकर उसे और भी वेदना होती है मानों उसके और परमात्माके बीचमें एक नदी-सी है तब फिर उसका मिलन प्रयत्न व्यर्थ है। अब प्रियतम ही आकर सहायता करे तभी पार जाना सम्भव है। वह पुकारती है —

बिचालै[1] नदी बहै जी अब पीव क्योंकरि आऊँ पार। (टेक)
बहै बिचालै नदी अपरबल ऊँची लहर गंभीर।
मैं अबला तिरि ना सकूँ पडूँ किसी बिधि तीर॥
तामहिं मगर मच्छ बहुतेरा वैसी उठहिं तरंग।
पैली पार मेरा पीव बसै होय कहो क्यों संग॥
है कोउ तारु[2] तरवैता पार उतारै मोहिं।
सोंई सूं मेला करै पै बहु उपगारी तोय॥
कामी तलपै काम ज्यूं ज्यूं बिरहन मनकी चाहि।
जन तुरसी तलपै दरस कूं बैठि चाहिन मनकी चाहि॥

मिलनोत्सुक विरहिणीके बीचमें नदीका आभास! स्वयं अबला है नदीका प्रवाह प्रबल है आगे ऊँची लहरें और प्रिय दूसरी पार। उसकी क्या दशा हो सकती है, इसका सजीव चित्रण इस पदमें है। कोई तारनेवाला उसको मिल जाए तो उसके प्रति कितनी कृतज्ञता होगी!

इस प्रकारके पद एक दो नहीं अनेक हैं जिनमें भावका गाम्भीर्य अथाह है वेदना असह्य और रस अपार है। तुरसीके इन विरहात्मक पदोंमें काव्यका गम्भीर प्रवाह है। उस गम्भीरतामें गोते लगाते समय थाह मिलनी कठिन हो जाती है, अतः मूक भावोंके मनमें अनुभूति कहनेकी नहीं वरन् अनुभव करनेकी वस्तु रह जाती है।

संयोग वर्णन

तुरसीके काव्यमें आये शांत रसकी अनुराग धाराके सहायक रूपमें आये शृंगारका यह विरह पक्ष हुआ जो कि तुरसीके पदोंमें विशेष गहनता लिये हुए

१ बीचमें।
२ तारनेवाला।

है और जिसके अतर्गत हमे तुरसीका साधनात्मक व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। किंतु शृगारके द्वितीय पक्ष सयोगकी आनदमयी वासती छटा भी तुरसीकी रचनामे कम नही विखरी। विरहसे व्यथित, वेदनासे मुरझायी आत्माके लिए वह क्षण भी आता है जब कि परमात्माका मिलन होता है, जब व्यथित सरिता अगाध आनद सागरमे निमग्न होती है। उसका वर्णन कठिन है किंतु वह आनद अलौकिक काव्यानुभूतिसे ओत-प्रोत है। तुरसीने उस दशाका भी चित्रण करनेका प्रयास किया है। सयोग वर्णन वैसे भी कठिन होता है, क्योकि वर्णन कौन करे? आत्मा प्रियको अलौकिक सौंदर्ययुक्त देखती है। फिर उसे कितनी शाति और कितना सुख मिलता है इसकी झलक निम्न पदमे है —

अब पीव मिले हो परम सुषदाई।
नैननि स्वांति (शाति) भई सुन सजनी!
बहुत दिननकी मेरी तपनि वुझाई।
प्रेम प्रीतिके वसन पहिरि कै, निरति सुरति काचू गहि आई।
षिमा* षवरि तिलक ततुराजे सील अभूषनकी छवि छाई।
षोरसि षभ लगे मदिरकूं द्वादस दल तहाँ सेझ वनाई।
विरहिन पीव परसि पद राचे प्रीति पुहुष वरसै अधिकाई।
निरमल जोति मई चहुँ ओरा अनहद धुनि तहाँ टेर सुनाई।
जन तुरसी आनद आरतिलूं, सलिता होय सुष सिन्धु समाई॥

मिलनका व्यापक वर्णन है। पवित्र आत्माका स्वरूप परमात्मासे मिल रहा है जिसके माथेपर क्षमाकी खौर है और तत्त्वका तिलक है तथा अगोमे शीलका आभूषण है। प्रीतिके पुष्पोकी वर्षा हो रही है। चारो ओर निर्मलताका प्रकाश है और अनवरत रूपसे ध्वनित अनहदकी मधुर ध्वनि है। यह सरिता-सिंधुका समागम अपूर्व आनद देनेवाला है। इस अलौकिक मिलनका आनद आत्मा किस प्रकार अनुभव करती है इसका चित्रण छोटे-से पदमे तुरसी यो कहते हैं —

हमारे परम सनेही पाये।
पूरव लै परसादि राम वै भागि वडे घर आये।
रोम रोम तन सुष रुचिवाढी, दुष सताप नसाये।
जन तुरसी मेरे जनमजनमके आनद अभिलाष पुराये॥

यह मिलनका आनद तुरसीका दो प्रकारका है। आनदमय मधुर अलौकिक सगीत सुनना और हृदयमे उत्पन्न मधुर ज्योतिके दर्शन करना। इसको देखकर तथा ध्वनिको सुनकर फिर परम विस्मृतिकी दशामे साधक हो जाता है। उस समयके आनदका वर्णन निम्नाकित पदमे है —

---

* क्षमाकी खौर (मस्तकका आभूषण)

इसमें पुनः विरहिणीका वर्णन है जिसने सम्पूर्ण युग प्रिय-दर्शनकी आशामें व्यतीत किये हैं। चातककी भाँति सारी रात वह 'पिय पिय' की रट लगाये है। सावनकी ऋतु आयी और उसने सब बन-बागोंको तो हरा भरा कर दिया किन्तु विरहाग्निमें झुलसी विरहिन आत्माको कुछ भी उल्लास नहीं। विरह इतना विषम है कि ऋतु विपर्यय कोई प्रभाव नहीं डाल पाता है। चाहे वर्षा आवे चाहे बसंत उसमें तो एक ही टीस घुली हुई है। उसे तो मिलनेकी धुन है किन्तु फिर कभी-कभी अपने और परमात्माके बीचमें बड़ी दूरी देखकर उस ओर भी वेदना होती है मानो उसके और परमात्माके बीचमें एक नदी-सी है तब फिर उसका निजी प्रयत्न व्यर्थ है। जब प्रियतम ही आकर सहायता करे तभी पार जाना सम्भव है। वह पुकारती है —

> बिचालैं[1] नदी बहै औ मन धीर क्योंकरि जाऊँ पार। (टेक)
> बहै बिचाले नदी अपरबल ऊँडी गहर गभीर।
> मैं अबला तिरि ना सकूं पहूं किसी बिधि तीर॥
> तामहिं मगर मच्छ बहुतेरा कैसी करहिं तरंग।
> कैसो पार मेरा जीव बसै होय कह्यो क्यों संग॥
> है कोऊ तारू[2] ततवेता पार उतारै मोंहि।
> तोहि यूं सेवा करूं मैं अरु उपगारी सोय॥
> आगी तलपै काम ज्यूं मिरतक जलकी पांहि।
> जन तुरसी तलपै दरस कूं जैसे चात्रिग घनकी चाहि॥

मिलनोत्सुक विरहिणीके बीचमें नदीका व्यवधान! स्वयं अबला है, नदीका प्रवाह प्रबल है, धारा ऊँडी, गहरी और प्रिय दूसरी पार। उसकी क्या दशा हो सकती है इसका सजीव चित्रण इस पदमें है। कोई तारनेवाला तत्त्वज्ञ मिल जाए तो उसके प्रति कितनी कृतज्ञता होगी!

इस प्रकारके पद एक दो नहीं अनेक हैं जिनमें भावका गांभीर्य अथाह है, वेदना असह्य और रस अगाध है। तुरसीके इन विरहात्मक पदोंमें काव्यका गम्भीर प्रवाह है। उस गम्भीरतामें गोते लगाते समय थाह मिलनी कठिन हो जाती है, अतः मूक भावोंके रूपमें अनुभूति कहनेकी नहीं वरन् अनुभव करनेकी वस्तु रह जाती है।

संयोग वर्णन

तुरसीके काव्यमें आये शान्त रसकी अनुराग धाराके सहायक रूपमें आये शृंगारका यह विरह पक्ष हुआ जो कि तुरसीके पदोंमें विशेष गहनता लिये हुए

---
१ बीचमें।
२ तारनेवाला।

है और जिसके अतर्गत हमे तुरसीका साधनात्मक व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। किंतु शृगारके द्वितीय पक्ष सयोगकी आनदमयी वामती छटा भी तुरसीकी रचनामे कम नही विखरी। विरहसे व्यथित, वेदनासे मुरझायी आत्माके लिए वह क्षण भी आता है जब कि परमात्माका मिलन होता है, जब व्यथित सरिता अगाध आनद सागरमे निमग्न होती है। उसका वर्णन कठिन है किंतु वह आनद अलौकिक काव्यानुभूतिसे ओत-प्रोत है। तुरसीने उस दशाका भी चित्रण करनेका प्रयास किया है। सयोग वर्णन वैसे भी कठिन होता है, क्योंकि वर्णन कौन करे? आत्मा प्रियको अलौकिक सौदर्ययुक्त देखती है। फिर उसे कितनी शांति और कितना सुख मिलता है इसकी झलक निम्न पदमे है —

अब पीव मिले हो परम सुषदाई।
नैननि स्वाति (शाति) भई सुन सजनी!
वहुत दिननकी मेरी तपनि वुझाई।
प्रेम प्रीतिके वसन पहिरि कैं, निरति सुरति काचू गहि आई।
षिमा* षवरि तिलक ततुराजै सील अभूषनकी छवि छाई।
षोरसि षभ लगे मदिरकूं द्वादस दल तहाँ सेझ वनाई।
बिरहिन पीव परसि पद राचे प्रीति पुहुप वरसै अधिकाई।
निरमल जोति भई चहुं ओरा अनहद धुनि तहाँ टेर सुनाई।
जन तुरसी आनद आरतिसूं, सलिता होय सुष सिन्धु समाई॥

मिलनका व्यापक वर्णन है। पवित्र आत्माका स्वरूप परमात्मासे मिल रहा है जिसके माथेपर क्षमाकी खौर है और तत्त्वका तिलक है तथा अगोमे शीलका आभूषण है। प्रीतिके पुष्पोकी वर्षा हो रही है। चारो ओर निर्मलताका प्रकाश है और अनवरत रूपसे ध्वनित अनहदकी मधुर ध्वनि है। यह सरिता-सिंधुका समागम अपूर्व आनद देनेवाला है। इस अलौकिक मिलनका आनद आत्मा किस प्रकार अनुभव करती है इसका चित्रण छोटे-से पदमे तुरसी यो कहते हैं —

हमारे परम सनेही पाये।
पूरब लै परसादि राम वै भागि वडे घर आवे।
रोम रोम तन सुष रुचिवाढ़ी, दुष सताप नसाये।
जन तुरसी मेरे जनमजनमके आनद अभिलाष पुराये॥

यह मिलनका आनद तुरसीका दो प्रकारका है। आनदमय मधुर अलौकिक सगीत सुनना और हृदयमे उत्पन्न मधुर ज्योतिके दर्शन करना। इसको देखकर तथा ध्वनिको सुनकर फिर परम विस्मृतिकी दशामे साधक हो जाता है।' उस समयके आनदका वर्णन निम्नांकित पदमे है —

* क्षमाकी खौर (मस्तकका आभूषण)

नैन थके रंग रूपमें रसना रस भूली।
श्रवण अनाहद नादमें रहे परस्पर झूली।
मन तनमें फिरि आइया भ्रमना बिसराई।
जा घरते बिछुरे हुते सो ठाहर पाई॥
विलीमान मई वासना, उपज्यो ब्रह्मग्याना।
जन तुरसी सुष पाइया सुमिरत निरवाना॥

यह साधक और कविकी आनद-अनुभवकी उच्चतम अवस्था है। जब नेत्र रूप-दर्शनमे, रसना रसपानमे और श्रवण मधुर ध्वनिमे विभोर हो गये तब फिर उस आनदका वर्णन कौन करे, अत "जिन पाया तिन बिलसिया" ही कहना पडता है। वे उस आनदको पानेवाले और विलसनेवाले धन्य हैं और उनका सपर्क किसी भी रूपमे कृतार्थकारी है।

यह तो सब रसोंसे व्यापक शृगार-रसका वर्णन हुआ जिसका प्रवाह, अथाह वेदना, विशाल आनद तथा अगाध गाभीर्य लिये, तुरसीकी रचनामे हमे मिलता है। किंतु इसके अतिरिक्त रौद्र और अद्‌भुत रस भी एक-आध स्थलोपर बढते हुए भक्ति प्रवाहके सहायक होकर आ मिले हैं। परमात्माका ऐश्वर्य-वर्णन तुरसीने एक पदमे सगुण कवियोकी भाँति विराट् रूपमे किया है। सपूर्ण देवता, मुनि उसकी वैभव-विकीर्ण राजधानीमे हैं —

धनि धनि पीवकी रजधानी हो।
सुर नरमुनि जाके उलिगाना चद्र घुरै निसानी हो।
अपनी आप जमाय जुगुति सूं मारूत माझ समानी हो।
अम्बर अधर धर्‍यो बिन षभै चद सूर अगिवानी हो।
ब्रह्मा कुलाल कुवरे भडारी चित्रगुपित लिखतानी हो।
धरमराज जाके कुतवाला छपनकोटि भरै पानी हो।
सेस सहसमुष कीरति गावै, नारदसे रिषि ग्यानी हो।
सनकादिक जाके ब्रह्मचारी सकरसे मुनि ध्यानी हो।
सब देवनके देव गुंसाई सबके अन्तरजामी हो।
अरध उरध मध्रि तुमही व्यापक, तीनलोक सिरनामी हो।
जैसे नदिया समुद समानी बहुरि न उलंघै पानी हो।
जन तुरसी मिलि रहे परस्पर सबद रहे सहनानी हो।

इसमे सगुण स्वरूपकी भी झलक है किंतु यह जिसका वैभव है वह निर्गुण ही है। उसका स्वरूप व्यापक और विराट् है जिसका हमे ऊपरके पदमे वर्णन मिलता है।

अद्भुत रसके वर्णन दो-एक स्थलोंमें बड़े सुन्दर हैं। बेली नामक प्रकरणमें तुरसी एक बेलिका वर्णन करते हुए उसे अद्भुत गुणोंसे संपन्न दिखाते हैं। यह बेलि ऐसी है कि —

ज्यूं ज्यूं बेली काटिये त्यूं त्यूं हरी जु होय।
तुरसी यह हैरान है सींचे सूके सोय॥

यह बेलि काटनेसे हरी होती है और सींचनेसे सूख जाती है इतना ही नहीं उसके और भी आश्चर्यकारी गुण हैं —

तुरसी बिन फूलाँ लगे अमृत फल फूली सूकल जाय।
पावक पोषे पुष्ट होय बिन पावक मुरझाय॥
तुरसी धर ते बिछुरि कै नभमें करै निवास।
तब बेली फूलै फलै षट् रिति बारामास॥

बड़ी अद्भुत इस प्रकारकी आसमानमें फैलनेवाली षट् ऋतु बारह-मास फूलनेवाली बिना फूलके अमृत फल देनेवाली और फूलनेपर निष्फल जानेवाली अग्नि पाकर पुष्ट होनेवाली और बिना अग्निके मुरझा जानेवाली बेलि कौनसी हो सकती है? तुरसी इस अद्भुत बेलिको इसी प्रसंगमें स्पष्ट कर देते हैं। यह बेलि आत्मबेलि है। इसकी जड़ें अनंत वासनाएँ हैं। साधनामें विरहका अनुभव ही उसका आगसे पोसना है और सांसारिक वियोग ही मानो पृथ्वी छोड़ आकाशमें लहराना है और अनवरत आनंद पाना ही मानो उसका षट् ऋतु बारह मास फूलना है —

तुरसी आतम बेलिरी जर वासना अनंत।
तो जर निरमूर होहिं तब कहूँ फल लागंत॥

उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि तुरसीके काव्यमें प्रधान रूपसे भक्ति किन्तु सहायक रूपसे अन्य अनेक रसोंका प्रवाह है और इस रूपमें तुरसीका काव्य बड़ा ही प्रबल और प्रभावशाली है। संसारसे विराग और परमात्मासे अनुराग उनका मुख्य विषय है। इनके चित्रणमें अद्भुत बल दीखता है। अनुरागके आधारपर वियोग शृंगार और विरागके आधारपर शांत रस दोनोंका प्रवाह एक साथ ही निःसृत है। निम्नलिखित पदमें देखिए —

दुनिया तूं क्या मेरा जी मैं दरसन चाहूं तेरा जी।
जलहर बरसो बार नहिं पार चातिग चंच न बोरै लगार।
निसिदिन पीव पीव करत बिहाय घन बिन तनकी तपनि न जाय।
क्या करहु बरखहु रघुबीर बरसि बुझावै मेरे तनकी पीर॥
जन तुरसी कै आस तुम्हारी, दरसन देहु दयाल मुरारी॥

वियोगके तथा मिलनके व्यथा और आनदपूर्ण गीत हमे तुरसीकी रचनामे भरपूर मिलते हैं, किंतु उनका कोई क्रमिक विकास उनके दिये क्रममे नही है। अतिम सीमा तक पहुँचनेके पूर्व साधक कितने दु ख-सुखोंसे आंखमिचौनी खेलता है यह उनके गीतोंसे स्पष्ट विदित है। साधककी वेदना और सुख, विछोह और मिलन दूरकी वाते नही और जहाँ तक जीवनका सवध है, दोनो भावनाओका खेल हुआ करता है।

वर्तमान काव्य-समालोचन रस-परिपाक, अनुभूतिका स्वाभाविक विकास व प्रकाशन, तथा कविके व्यक्तित्वका उसकी रचनामे प्रभाव इत्यादि वातोपर ही महत्त्व देता है। तुरसीकी कविता अनलकृत है किंतु उसमे स्वाभाविक अनुभूति और रसकी प्रधानता है। यथार्थमे वेदना अनुभूतिके सबसे निकट है और तुरसीका काव्य अनत वेदनासे भरपूर है।

"अनतकी वेदनाकी अनुभूतिसे अनतके आनदका अनुभव कराना ही साहित्यका मूल उद्देश्य है।"

[साहित्य-कला और विरह—इलाचद जोशी]

काव्यमें वेदनाका स्थान

तुरसीके काव्यमे विरह-वेदना अनतके प्रति है और उसका सवध भी अनतकी आनद अनुभूतिसे ही सीधा है। अत वर्तमान आलोचनाकी विचारधारा-मे भी तुरसीका काव्य (पद-काव्य) अपनी मधुरता घोलता है। यथार्थमे तो साहित्य वेदना-प्रधान ही है। ससारके समस्त काव्य वेदनासे भरे हुए हैं। यहाँ तक कि वर्तमान कवि तो कविताका स्रोत ही वेदनाको मानता है —

वियोगी होगा पहला कवि, आहसे निकला होगा गान।
उमडकर भावोंसे चुपचाप वही होगी कविता अनजान। (पन्त)

वेदनाके अवसरमे ही काव्यकी अविरत धारा नि सृत होती है और यदि देखा जाए तो वेदना ही सपूर्ण काव्योका प्रधान रस है और इसको ही लक्ष्य करके भव-भूतिने सव रसोमे करुण रसको प्रधान माना है, क्योकि उसमे वेदनाकी गहराई है। ससारके महाकाव्योमे भी वेदना ही प्रधान है। "इलियड, ओडीसी, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्योमे नाना जटिलताओंके भीतर अतको वही अनतकालिक वेदना अपनेको प्रकाशित करती है"। अभिज्ञान शाकुतलका भी रस-विपाक विरह-वेदनामे ही होता है और उन्ही स्थलोंमे काव्यकी पूर्णता मिलती है। बिना वेदनाके तो जीवन भी खिलवाड है। फिर आनद भी वास्तवमे वेदनाकी ही चरमावस्था है। विरह-वेदनाका आनद आन्तरिक पवित्रता तथा लगनसे उद्भूत आनद है। सस्कार रूपमे, स्मृति रूपमे हमारा हृदय वेदनाका अनुभव कहता है।

श्री रवींद्रनाथ टैगोरने लिखा है —

> पूर्णिमा निशीथे जबे दश दिके परिपूर्ण हासि।
> दूरस्मृति कोथा हते बाजाय व्याकुलकरा बाँसि
> झरे अश्रुराशि॥

(पूर्णिमा रात्रिमें जब सर्वत्र परिपूर्ण उज्ज्वल मुसकान व्याप्त रहती है तब दूरकी स्मृति बंसीमें अत्यंत व्याकुलतापूर्ण राग बजा देती है और आँसुओंकी झड़ी लग जाती है।")

अतः आनंद-स्मृतिसे हमारा वेदनात्मक संबंध ही रहता है। दूरके संयोगमें एक रहस्य रहता है क्योंकि उसका संबंध वेदनासे हो जाता है, वियोगसे हो जाता है। अतएव आनंदका वेदनासे अविच्छिन्न योग है। और यही अनंत वेदना काव्योंका प्राण है।

अनंत वेदनाका अनुभव हमें संत-काव्यमें प्रधानतया मिलता है। संत इस वेदनाके साथ-साथ ही आनंदके भी भागी होते हैं। संत-काव्यमें संतोंका काव्यात्मक उद्देश्य न होते हुए भी विस्मय कर देनेवाली उच्च कोटिकी कविता मिलती है जिसका रस अलौकिक विरहसे परिपक्व आनंद है। कबीर इसी अनंत वेदनामें ही कहते हैं —

> सब रग तंत रबाब तन बिरह बजावै नित्त।
> और न कोई सुनि सकै कै साईं कै चित्त॥

इस रसके रूपमें ही विरहके अंतर्गत आनंदका बीज रहता है। संतोंको अनंत वेदनाका तीव्र अनुभव होता है और यही कविताका स्रोत है। इनका विरह और अनंतके प्रति वेदना सांसारिक विछोह-भावनासे विशेष व्यापक और तीव्र होती है क्योंकि वे इसी भावमें रमते हैं। वेदना ही धीरे-धीरे आनंदका स्रोत हो जाती है। तुलसीका एक वेदनात्मक गीत इस बातको स्पष्ट करता है कि यह विरह-वेदना अन्य लोगोंकी अपेक्षा साधककी ही विशेष रूपसे होती है।

> हरि बिन क्यों जीऊँ री माई।
> निसि बासर कल ना परे पिरी जीव तरसाई॥
> जैस पपि प्रतिपाल पीव्ही बोलि रटताई।
> एकहि सेज सदा रहते पीव सो न बिसराई॥
> परम चातुर कमल कमलनर जानहि पपचाई।
> मीन जलनिधि बीछुरे तौ तलफि मरि जाई॥
> मधु विरहके बस परतो जैसे काठ घुन खाई।
> अबकी बेर न आय ही तौ करक रहि जाई॥

पीय बिना पियरी भई, सरव विथा तन छाई ।
बोषदि कछू न सचरै, मोहि लागि बौराई ।।
विकल ह्वै बन वन फिरी हूँ टेर सुनि धाई ।
जन तुरसी प्रभु मिले हंसिके सकल सुषदाई ।।

उपर्युक्त पदमे उसी वेदनाका वर्णन है । उस वेदनात्मक अनुभवमे "पीय विना पियरी मई सरव विथा तन छाई" और जिसके उपचारमे और कोई औपधि नही है, बौराई लगती है, पागलपन है, यह क्या है ? यह अनतकी वेदनाका अनुभव है । स्मृति है प्रियके साथ रहनेकी जो कि विस्मृत नही की जा सकती । यही वेदनाका स्रोत है जिसे वशीके समान सुनकर अश्रुराशि झरने लगती है । उस वेदनामे "विकल ह्वै वन-वन फिरी, हूँ टेर सुनि धाई" इस प्रकारकी मादक और विभोर कर देनेवाली अनतकी वेदना है किंतु इसका सबध अनतके आनदसे है जिसकी झलक वेदनाके साथ-साथ ही स्मृतिमे रहती है और अतमे वह आनदमे परिणत हो जाती है । जव "प्रभु मिले हँसिके परम सुपदाई" तो वह अनतकी वेदना और अनतका आनद हमे तुरसीके काव्यमे मिलता है ।

अतएव हम अन्य सत साधक कवियोंके साथ-ही-साथ तुरसीके लिए भी टैगोरका कथन कि "मध्यकालीन सत कवियोमे उच्च कोटिकी कविता और उच्च कोटिकी साधनाका सम्मिश्रण है" कितना सत्य पाते हैं । जिसमे कविकी निजी अनुभूत वेदना और आनद कविता वनकर आये हो उसके साथ स्वाभाविकता और प्रभाव सगे-से हो जाते हैं और यही वात हमे तुरसीके काव्यमे मिलती है । उनके उपदेशात्मक पद्य जहाँ उपदेशात्मक ज्ञानसे भरे हुए हैं वहांपर उनके पदोंमे पूर्ण काव्य-प्रवाह है, अनत वेदना है और है अलौकिक आनद ।।।

———

(१)

तुलसीकी भाषा

तुलसीदासकी भाषा साहित्यिक नहीं बोलचालकी भाषा है, यह बात तुलसीकी रचनापर एक साधारण-सा दृष्टिपात करनेपर ही स्पष्ट हो जाती है। उसमें वाक्य अलंकार, छंद आदिसे संबंधित कोई विशेषता और कोई सौंदर्य हमें नहीं मिल सकता। कलापक्षका उसमें पूर्ण अभाव है। उनकी रचना भावकी दृष्टिसे ही साहित्यिक है भाषाकी दृष्टिसे नहीं। जिसका साहित्यिक उद्देश्य हो वही उसकी भाषामें अच्छा साहित्यिकता कहाँसे मिल सकती है? केवल साहित्यिकता और शब्दशक्तिकी दृष्टिसे तुलसीकी रचना विशेष महत्त्वकी नहीं। जोड़ोंमें अधिक कहनेकी कला जिन साहित्यिकोंकी होती है तुलसी उनसे दूर हैं। किंतु फिर भी भाषाकी दृष्टिसे इस प्रकारके काव्योंका एक महत्त्व है। ये बोलचालकी भाषाके काव्य भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे भाषाके विकासको उपस्थित करते हैं और यह इस प्रकारकी रचनाओंमें पाया जानेवाला स्वरूप यथार्थमें भाषाका विकसित स्वरूप है।

जिन बोलचालकी भाषाओंमें इस प्रकारके काव्योंका श्रीगणेश होता है वही आगे चलकर साहित्यिक भाषाओंका रूप धारण करती हैं। अतः बोलचाल भाषाकी रचनाएँ मानो भाषाका प्रारंभिक स्वरूप हैं। साहित्यिक भाषामें रचनाओंके साथ साथ ही बोलचालकी विकसित भाषामें भी रचनाएँ चलती रहती हैं। अतएव हमें इस प्रकारके काव्योंमें भावकी उत्कर्षता और रस तथा अनुभूति-प्रधान काव्यके अतिरिक्त भाषाका रूप भी उचित-सा मिलता है और इस प्रकार उनका साहित्यमें कम महत्त्वका स्थान नहीं हो सकता है। यथार्थमें भाषाका बोलीके रूपमें विकास सर्वथा चलता रहता है। अतः हिंदीके विकासका कारण केवल मुसल्मानोंका संपर्क नहीं। हाँ इस प्रकारके संपर्क विकासको गति अवश्य दे देते हैं। मुसल्मानोंके आनेके पूर्व भी हिंदी अपभ्रंश या लोकभाषाके रूपमें प्रचलित होने लगी थी जैसा कि हिंदी साहित्यकी भूमिकामें श्री हजारी प्रसादजी द्विवेदी लिखते हैं —

मेरी दृष्टिमें सही बात तो यह है कि मुसल्मानी शासनके प्रभावसे अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंशकी कविताएँ संस्कृतके समान ही आदर पाती थीं। कबीरने कहा था कि "संस्कृत कूपजल कबीरा भाषा बहता नीर" यह मुसल्मानी प्रभावके कारण नहीं। ठीक इसी प्रकारकी उक्ति बहुत पहले कही जा चुकी थी। असलमें दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दिमें काव्यके लिए भी "उचित विशेसी कर्म भाषा जा होउ सा होउ" यानी भारवा मज़बूत हो चुकी

थी। शायद ही कोई उल्लेख योग्य सस्कृत भाषाका अलकार शास्त्री हो जिसने सस्कृतकी कविताओंके साथ-ही-साथ प्राकृत तथा तत्काल प्रचलित लोकभाषाकी कविताओका विवेचन किया हो।"

यहाँ तक कि सस्कृत नाटकोंमे भी स्त्री और निम्न श्रेणीके पात्र पाली या प्राकृत बोलते थे। विद्यापति भी अपने कुछ ग्रथोको सस्कृतका युग होनेपर भी अपभ्रश और देशी बोलीमे लिखनेका कारण बतलाते है—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

भाषा अपना भाडार बोलचालमे ही भरती है और बोलचालमे भाषा-परिवर्तन होनेका कारण उच्चारणकी सरलता और अर्थप्रचुरता है। दोनो भी साहित्य सृजनके लिए उपयोगी होती है। अतएव हम हिंदीकी असाहित्यिक और विकृत भाषामे लिखी गयी रचनाओंकी अवहेलना नही कर सकते। इनमे हिंदीका विकास झाँक रहा है। विभिन्न भाषाओंके शब्द तद्भव-स्वरूप जहाँ भाषाकी अस्थिरताके द्योतक हैं वहाँ उसकी उदारता व विशालताके भी परिचायक हैं। फिर घुमक्कड साधु-महात्माओ और उपदेशकोंने घूम-घूमकर सर्व स्थानोकी भाषा और भाव-प्रकाशनकी शैलियाँ ग्रहण करके हिंदीकी समृद्धता बढानेका कार्य किया है। इस दृष्टिसे कबीर, दादू, नानक और तुरसी, हरिदास आदिके काव्योंको हम भाषाकी दृष्टिसे भी कम महत्त्वका नही कह सकते। राजस्थानी, पजाबी, अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देली, बिहारी और मैथिली आदि अनेक भाषाओंके शब्दोका जमघट हमे उनकी बानियोंमे मिलता है और उन सब शब्दोंको हिंदीके रूप और शैलीमे ढाल देनेका अधिकाश श्रेय इन्हींको है। अतएव हम कह सकते हैं कि हिंदीको इतनी व्यापक बनानेका यश बहुत कुछ इन्ही महात्माओ और उनकी बानियोंके साथ ही है।

काव्यमे यह बहुभाषापनकी समृद्धता आजकलके दृष्टिकोणसे ही अभिप्रेत नही है, वरन् विविध प्रकारकी भाषाके शब्दोंसे समृद्ध काव्यकी भाषा प्राचीन-प्रशसित विशेषता थी। गग और तुलसीदासको सुकवियोका सरदार बताते हुए इसी सबधमे दासकी उक्ति है—

तुलसी गग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यनमें मिलै, भाषा विविध प्रकार॥

गगका काव्य तो विशेष उपलब्ध नही, किंतु तुलसीके काव्यमे विभिन्न-भाषा-शब्द-भाडार हम अब भी देखते हैं। सत तुरसी निरजनीकी भाषामे कबीरकी भाषाकी भाँति अनेक बोलियोंके शब्द मिलते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीरकी भाषामें जहाँ अवधीका पुट विशेष है वहाँ तुरसीकी भाषामे बुन्देलीका प्रभाव है। बुन्देली ब्रजभाषाकी ही एक उपबोली है। तुरसीकी रचनामे हमें शब्दोंके जौ, थोरौ, कछू, भलौ, तातै आदि रूपोकी भरमार मिलती है। उदाहरणार्थ तुरसीका एक पद लेते हैं—

ऐसे मन राची तमही माँहि ।
निमष न न्यारी होय जीव सूं, राचि रहे निज ठाँव ।
जो माँने सो पल नहीं भावूँ अनमोल्या कछु दीन ।
जहाँ काम तहाँ ध्यान न देहूं चोरि करै आधीन ।
उत्तर दक्षिण छोड़ि दिस परिहरि पश्चिम राखूँ पूरि ।
असुर मारि सुर जोरि बसाऊँ राम रमूँ भरपूरि ।
पाँच पचीसू पचतत्त्व चूर्ण मनसा लेहूँ उपराम ।
जन तुरसी आनन्द पद भजिके पद महि रहूँ समाय ।।

उपर्युक्त पदमें "राची" शब्द न ब्रजभाषाका ही शुद्ध रूप है जो कि "राचियो" होना चाहिए और न अवधीका जिसमें "राचहु" रूप होता है। यह इन दोनोंके बीचके प्रदेशमें बोला जानेवाला शब्द है। "न्यारी" शब्द शुद्ध ब्रजभाषाका है और "जीव सूं" राजस्थानीसे प्रभावित ब्रजभाषाका रूप है। शुद्ध ब्रज बोलीमें "जीउसों" होगा इसी प्रकार "भावूं" और "अनमोल्या" यह भी जयपुरी (राजस्थानी) के रूपसे जान पड़ते हैं। "देहूं, भजिकै" आदि शब्दोंमें बुन्देली (ब्रजभाषा) का रूप अंतर्निहित है। "ठाँव" में अवधीका रूप परिलक्षित होता है। तो इस प्रकारके रूप हमें तुरसीके किसी पदका विश्लेषण करनेपर मिल जाएँगे। यह कोई चुना हुआ पद नहीं है। इनकी रचनामें "मंझियो" "अंतरपारै" आदि शब्दोंके रूप-से मिलते हैं और कहीं "देख्या" "ज्यूं" आदि राजस्थानीके रूप भी मिलते हैं।

राजस्थानी विशेषकर जयपुरीके कहीं-कहीं हमें स्पष्ट स्वरूप तुरसीकी रचनामें दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें अपभ्रंश और राजस्थानीका पुट एक साथ ही उपस्थित मिलता है। जैसा कि —

पहले मन होय कै मिले पीछे होहि अधीन ।
जैसे चित कपटीन सूं तुरसी मिलै जु कीन ।।

मन कीन कपटीन सूं और अधीन आदि राजस्थानीके रूप हैं। फिर अधीन अपभ्रंशका विकृतरूप है। इसी प्रकार ज्यूं जलसेती मीन" भी राजस्थानी प्रयोग है। इसी प्रकार —

जनै माई धना ध्यानकी, दामिनि दमकत लोभ
प्रीति पवन बलि हरि जल बूंद अमृत धार सनेह ।

ये दामिनि" राजस्थानीका रूप है। जनै" बुन्देली रूप है। इसका अवधी रूप है जोनै । किन्तु इस प्रकारके रूप तुरसीकी भाषामें सामान्यतः नहीं

आते हैं। सामान्यत आनेवाले शब्द ब्रजभाषा और अवधीके हैं। निम्नपदमे पुन —

आवेगे ये राम हमारे, उपजावत उलसाहा।
तप सब मम दुष दूरि करहिगे, अवसि वे निरगुन नाहा।
निसिवासर ठाढ़ी मग जोऊं, करि करि प्रीति उमाहा।
जांचू जो यूं मिलूं पीव कूं, ज्यूं समुद्र कूं वाहा।
पीय जीय सधि रहै न कोऊ, घुले कनक लौं काहा।
जन्म जन्म अरु जुग जुगतके मिटहिं हमारे दाहा।
पड़ु अभिलास अंतित हमारे, और न कोऊ चाहा।
और चाह चितवनि सबत्यागी तुम आवो उर माहा।
तुम तेज पुंज परकास अपरिचित है सुपसिन्धु अथाहा।
जन तुरसी कूं मिलो महाप्रभु, आवहु यह भल लाहा।

इसमे "जाचूं जो यूं मिलूं पीव कूं, ज्यूं समुद्र कूं वाहा" मे राजस्थानी का रूप है। इस प्रकार तुरसीकी भाषामे अनेक बोलियोके रूप हैं। किंतु इस विकृत और अकलात्मक भाषामे भी भाव कितनी सुदरतासे खिला है कि अनजाने कला आ गयी है। प्रियसे इस प्रकार मिलना जैसे कि समुद्रको "वाहा" अर्थात् प्रवाह—साधारण गतिसे जानेवाली नदी नही वरन् उसकी बाढकी गति मिलती है। फिर अन्य पक्तिमे —

पीय जीय सधि रहे न कोऊ, घुले कनक लौं काहा।

इसम "सधि" शब्द तथा "घुने कनक लौं काहा" शब्दसमूह महत्त्वपूर्ण हैं। प्रिय और जीवकी सधि अर्थात् बीचमे कोई न रह जाए और इसी बातको स्पष्ट करते हुए दूसरा उदाहरण देते हैं। "घुले कनक लौं काहा"—काया यों घुलकर परमात्माका रूप हो जाए जैसे कि स्वर्ण अग्निमे गल-गलकर खरा होता हुआ, अतमे अग्निका ही रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार अनुभूतिकी तीव्रता और भावकी सूक्ष्मताके अनुसार भाषा भी अपने आप सबल हो जाती है। अतः भाषाका अपरिष्कृत और असाहित्यिक होना भाव-प्रकाशनमे बाधा नहीं डाल सकता।

तुरसीकी रचनामे हमे कही-कही अवधी भी अपने ठेठ रूपमे मिलती है और जिसको पढकर जायसीकी अवधी स्मृतिमें नाच जाती है —

चकवै मडलीक यक राजा। तिनहूको सुष किह काजा।
वे परे कान्ह जम फांसी। तिहि पायो नहि अबिनासी।

(पृ ३७५—७६)

फिर कही-कही इनकी भाषामें उस समय भी खडी बोलीका स्वरूप स्पष्ट तथा परिलक्षित होता है। जैसे कि —

गलता ममता जब जावैगा तब पानी सब पावैगा।
पाँचौ पचीका बल पूटै मनवा उलटि समावैगा।
माया मोह भरमका बादल परदा सबै बिलावैगा। इत्यादि

(पृष्ठ १ २)

यथार्थमें यह साधुओंकी ही भाषा थी। अनेक स्थानोंमें घूमकर अनेक शब्द लेकर उसको खड़ी बोली या वर्तमान हिंदीका रूप देनेमें घुमक्कड़ साधुओंने बड़ा महत्त्वका काम किया है। तुरसी भी उपदेशार्थ प्रायः इसी प्रकारकी "सधुक्कड़ी" भाषाका प्रयोग करते हैं। यथार्थमें अनेक प्रांतीय बोलियोंके सम्मिश्रणका उद्देश्य भी यही जान पड़ता है कि उन्हें भिन्न भिन्न प्रान्तोंकी जनता तथा भिन्न-भिन्न बोली बोलनेवाले शिष्योंको उपदेश करना पड़ता था अतएव उनकी भाषामें भिन्न-भिन्न बोलियोंका सम्मिश्रण होना परम स्वाभाविक ही था। और इसके कारणसे उनके उपदेशकी भाषामें स्वाभाविकता और सहज ग्राह्यताका गुण आ जाता था।

विकृत शब्द

तुरसीकी रचनामें विकृत और तद्भव शब्दोंकी विपुलता है। ये शब्द कुछ तो बोल-चालमें प्रचलित शब्द हैं और कुछ वर्णविन्यास (Spelling) की अशुद्धिसे हैं। कुछ वर्णोंका प्रयोग ही नहीं है किन्तु यह तो अपभ्रंश और वर्तमान भाषाओंकी विशेषता है। ण के स्थानपर सर्वत्र न लिखा मिलता है ष को ख से प्रकट किया है और श के स्थानपर स का ही प्रयोग है। तुरसी लोभको लोभ सुखको सुख तथा अज्ञानी सरीर आदि लिखते हैं। इसी प्रकार तुरसीकी रचनामें ऋकारका उच्चारण सुगमस्वरूप रि तथा अमृतका कहीं-कहीं अमृत रूप मिलता है —

तुरसी चारि बेद मथि जो कछू संतनि कस्या सार।
सोई सार सँधि रिदामें मथि भूल बिस्तार।

इसी प्रकारसे वे प्रश्नको प्रस्न प्रसन्नको प्रसन दुर्लभको दुलभ निर्मलको न्रमल निष्फलको निर्फल निरंजनको निहुजन लिखते हैं —

चिहि पस ही प्रसन प्रभु लिह कर गहीर तीन

इसी प्रकार—बिचार मन मद्द दुलभ है तथा—

बहुरि कत पाय है रे ऐसो दुलभ दाव

और "बिचार जबको बरनाय। करि र जबे गुर आस्वर गुवराम।

ये विकृत शब्द कुछ तो कविता व छन्दकी आवश्यकताके कारण है किन्तु अधिकांश विकृत तद्भव रूप हैं। जैसे मग दुलभ भ्रम आदि। कहीं-कहीं शब्दका इतना विकृत रूप हो जाता है कि उसका पहचानना भी कठिन हो जाता है जैसे कि —

कछूक अभितगि पुनि कछू, कछूक जान अजान ।
तुरसी ताहि न उपदेसीए, पहले ही ब्रह्म विग्यान ।

अभितगि—अभितज्ञ, जानकार ।

इसी प्रकार 'जरना' शब्द जीर्ण (पुराना होना, पचना) से बना है जिसका जीर्ण रूप खडी बोलीमे भी प्रचलित मिल सकता है, तुरसीकी भाषामे मिलता है ।

तुरसी उच्चारण साम्यके आधारपर अध और ऊर्ध्वको अरध और ऊरध्र लिखते हैं —

तुरसी अरघ जाइ भल ऊरघ कूं भल भ्रमो मघि भोमि ।
विनु प्रतीति गुरु ग्यान मत भिवत नहीं एक रोम ।

ऐसे ही निकृत तद्भवके अनेक रूप उनकी रचनामे मिलते है जैसे, 'उल्है, पल्हवै (पल्लवित), विनानी (विज्ञानी), कृतम (कृत्रिम)' आदि ।

सस्कृतके निंद व विंदसे बने निंदौ, विंदौ रूप भी मिलते हैं —

कोउ, आवौ भल जाहु कोउ, निंदौ विंदौ कोउ ।

मे निंदौ, विंदौ क्रमश निंदा व प्रशसाके लिए आये हैं । शब्द-साम्यके आधारपर वने अपभ्रश शब्दोको हम तुरसीकी रचनामे और भी पाते है । जैसे कि निम्नलिखित दोहेमे —

बाहर सेवा बन्दगी, सतनि आगे होय ।
तुरसी सोउ माँहिली, नहीं बाहिली कोय ।

बाहिली—बाह्यके आधारपर माहिली—मध्यसे बना लिया है । इस प्रकार अपभ्रश शब्दोका प्रयोग तुरसीकी रचनामे मिलता है यहाँ तक कि अपभ्रश परपरामे प्रयुक्त छदोका भी प्रयोग किया है और पृथ्वीराज रासोके ढगके छद-से लगते हैं । जैसे —

ऊँचे अति कनक अवास । बिचि बिचि मणिनके उजास ।
सुष सेझ सुषासनि पान । ऊपरि तानिये बितान ।
दरि बजते बहु विधि बाजा । मानूं घेरि रहे घन गाजा ।
सुन्यो नहिं परतो कान । ते जाय मढे मैंदान ।। इत्यादि

हमे भाषाकी दृष्टिसे तुरसीकी रचना तद्भव शब्दोसे भरी हुई तथा अशुद्ध वर्णविन्याससे पूर्ण मिलती है ।

इस प्रकारकी भाषा-सवधी अशुद्धियो और छद-सवधी दोषोसे पूर्ण रचनाको पढ़ना साहसका काम है । उससे ऊब जाना ही नितात स्वाभाविक है । भाषा सौंदर्यका तो अभाव है ही किंतु भाव-सौंदर्यकी खोजमे हमे यह भी करना

आवश्यक है। इनकी भाषा निर्गुणी संत-कवियोंकी भाषाके समान है जिसके लिए डॉ॰ बड़थ्वालजी कहते हैं —

किंतु जिस रूपमें वे (निर्गुणी काव्य) हैं उस रूपमें भाषा-संबंधी विषमता इतनी स्पष्ट होकर सम्मुख आती है कि अनभिज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें जो कि भाषा सौंदर्य और भाव एक साथ देखनेके अभ्यासी हैं, इनकी कविताएँ कम-से-कम काव्य-पूर्ण लगती हैं। किंतु रहस्यवादी काव्यमें हमें प्रकाशन शैलीका सौंदर्य नहीं वरन् प्रकाशित भावका सौंदर्य खोजना चाहिए।

* * *

निर्गुणियोंमें भाषाकी असमर्थता नहीं वरन् रूप (भाषा) की ओरसे पूर्ण उदासीनता पायी जाती है जो कि अत्यंत खटकनेवाली है।[१]

किंतु उनकी रचनाका उद्देश्य भाषा या साहित्यके विद्वानोंके लिए सामग्री जुटाना नहीं था वरन् वे तो साधारण लोगों भूले-भटकों और जिज्ञासुओंके लिए उन्हींके समझने योग्य भाषामें अपने भावोंको व्यक्त करते थे। इसी कारणसे उनमें बोलचालके प्रचलित शब्द और एक ही भावका अनेक बार आवर्तन प्रभावशाली ढंगपर कहना तथा ग्राम्य घरेलू नित्य प्रतिकी उपमा उदाहरण आदिका प्रयोग मिलता है।[२] अपने उद्देश्यमें वे सफल हैं। अपनी बातको समझानेमें वे समर्थ हैं और यदि हमें उनको जाँचना है तो उनके उच्च भावों और उनकी उच्च साधना

---

१ "But as they are, the ruggedness of their language stands out so prominently as to make their verses the least likely place in the eyes of the unwary who are accustomed to see polish and poetry together where to find poetry But it is not for the beauty of expression that one ought to go to the mystic but for the idea expressed.

In the Niragunis it is not inadequacy of language, but the total disregard of the form that one deplores to finds."

—The Niraguna school of Hindi Poetry (Pages [illegible].)

२ It is by simplest metaphors, by constant appeal to needs, passions, relations which all men understand the bridegroom and bride, the guru and disciple, the pilgrim, the farmer the migrant bird that he drives home his intense conviction of the reality of the soul s intercourse with the transcendent– [One Hundred Poems of Kabir–Introduction.]

तथा निरीह आनदको देखकर जाँचना चाहिए। उनकी ऊबड़-खावड भाषामे जो भावरत्न हैं उनका मूल्य कम नही। गुदडीमे छिपे लालोका मूल्य बहुत होता है, केवल उनके पारखी चाहिए। और लालोको पानेके बाद गुदडीकी ओर कितने लोग ध्यान देते हैं ? तुरसीकी भाषामे अनेक बोलियोके शब्द, व्याकरण व वर्ण-विन्यासकी अशुद्धता तथा विकृत शब्द पाये जाते हैं। किंतु इस प्रकारकी भाषामे भाव-प्रकाशनकी स्वाभाविक प्रणाली अतर्निहित है। वह भाषाकी दृष्टिसे हिंदीके अपने रूपके अधिक सन्निकट है। शब्द-विन्यास भी उसमे बोलचालके अनुरूप है जो कि उसमे स्वाभाविकता ला देता है। तुरसीने 'ख' के बजाय सर्वत्र ष का प्रयोग किया है जिसका कि प्रयोग, डॉ धीरेन्द्र वर्माके अनुसार रवके साथ भूल बचानेके उद्देश्यसे प्रारभ हुआ था और मूर्धन्य (ष) का उच्चारण भुला देनेके पश्चात् 'ष' श की भाँति ही उच्चरित होता रहा है किंतु इन सबके होते हुए भी तुरसीदासकी भाषा स्वाभाविक है किंतु अर्थगौरव, परपरागत प्रभाव (association) लिये विशेष नही है और वे अन्य निर्गुणी कवियोकी भाँति ही भाषा-प्रयोगकी ओर रुचि रखते नही जान पडते हैं।

काव्यकी दृष्टिसे भाषा महत्त्व रखती है, किंतु भावके समान महत्त्व नही। जहाँ सत्यता है वहाँपर हमे स्वाभाविक रसकी कमी नही है। सत्यताके लिए सच्ची लगनके साथ तन्मय होनेके प्रयासमे और उसके चिरतन दर्शन करनेकी साधनामे ही तुरसी ऐसे सतोका जीवन बीता था। मनोविनोदमे नही, वरन् मनको आत्मवश करने और उसमे अपूर्व शक्तिको जागरित करनेमे ही उनका साफल्य था। अतएव उनका काव्य भी हमे उसी जीवनके आध्यात्मिक सत्यका दिग्दर्शन और अनतकी वेदनाकी अनुभूति कराता है। उनकी रचना काव्यके उस अगकी पूरक है जिसे हम निरपेक्ष अथवा निर्लिप्त आनद कह सकते हैं। इस आनदका सासारिक दुख-सुखो और भौतिक लगावसे कोई सबध नही। अन्य काव्योका महत्त्व जीवनके मनोविनोद-प्रधान स्वच्छद क्षणोमे ही होता है किंतु यह विह्वल जीवनका पथ-प्रदर्शक और सासारिक विकलताके अवसरपर धैर्य दिलानेवाला काव्य है।

तुरसीदास निरजनीकी कृति उनकी साखी, पद, ग्रथ, सबदी आदिका विवेचन और दिग्दर्शन करनेके पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि तुरसीकी वाणी कबीरके ज्ञानसे प्रेरित, भारतीय भक्ति-परपराका सस्कार लिये हुए, सूफियोके प्रेमसे पल्लवित और अन्य अनेक साधकोकी साधना किरणोसे पोषित तथा अपनी निजी साधनासे सुदृढ़ हुई नितात पुष्ट रूपमे समुपस्थित है। उसमे प्राचीन ग्रथोके भक्ति और ज्ञानके सिद्धात और निराकार परमात्माका सगीतमय मधुर तथा ज्योतिर्मय स्वरूप साधको-की हृदय-दृष्टिको विशाल कर देते हैं। उनकी साखियोंमे निहित कबीरके खरेपन

और ज्ञानके साथ-साथ उनके पदोंमें प्रवाहित तुलसी और सूरका-सा सरल एवं और स्पष्ट आत्मनिवेदन हिलोरें मारता है किन्तु उनके ज्ञान और साधनाका स्तर इतना ऊँचा है कि वहाँ भौतिक सौंदर्य तथा सांसारिक मोहके अनुरागके झोंकोंकी पहुँच नहीं। वहाँपर शीतल शांत और एक रस-वायु चलती है और ज्ञानके मधुर प्रकाशके साथ-साथ प्रेम और भक्तिके सरसीले अम्बुद आनंदकी वर्षा करते हैं। इस ऊँचाईके कारण और इस एकांतिक एकरसताके कारण उनकी कविता सर्वसाधारणके लिए उतनी नहीं जितनी कि साधकों और अन्वेषकोंके लिए है उसमें जीवनकी साधारण भावनाओंकी क्रीड़ा नहीं वरन् आध्यात्मिक व अलौकिक भावांकुरोंका विकास है। यही कारण है कि वह इतनी अवधिपर्यंत लुप्त रही है, और न जाने इन्हीं भावनाओंकी कितनी और रचनाएँ अभी लुप्त हैं!!!

———

बानी-संग्रह

हरिदासजीकी बानी

साखी

जो कुछ गुर सिष सूं कह्या, सो जे गुर पै होइ।
जन हरीदास करि वदगी, गुर गोविंद नही दोइ ॥ १ ॥
उलटा गोता मारि करि, अतरि अलप विचारि।
रामभजन आनद सदा, कदे न आवै हारि ॥ २ ॥
अतरि विरहा आईया, रोम रोम तन माहि।
जन हरीदास कै हरि मिलो, कै अब जीवन नाहि ॥ ३ ॥
विरहिन ऊभी दरद सूं, अबला सूं क्या माण।
कै मिलिहो कै तन तजूं, सुणि हो कत सुजाण ॥ ४ ॥
जन हरीदास अतरि अगह, दीपक एक अनूप।
जाति उजालै षेलीए, जहां छाहडी न धूप ॥ ५ ॥
जग हटवाडै विणज कूं, मिले बटाऊ आइ।
जन हरीदास सब जात है, दिन दस पैठ लगाइ ॥ ६ ॥
राति बसै दिन उठि चलै, यौ ससार सराइ।
जन हरीदास दुनियां सबै, पैडै लागी जाइ ॥ ७ ॥
मनसाको बैरी नही, मनसा सगा न कोइ।
जन हरीदास मन काच समि, मन फिरि कचन होइ ॥ ८ ॥
जन हरीदास सतगुर सबद, तहां मन रह्या समाइ।
अवधू सोई जाणिए, चुणि चुणि मन कूं षाइ ॥ ९ ॥
मोह लगाम त्रिसना तुरी, चित चौगानो हाथि।
जन हरीदास माया दडी, चल न काहू साथि ॥१०॥
अनभैकी कथणी कथं, अंतर लागी लाइ।
मंजारी मै प्रीति ज्यूं, मन माया कूं जाइ ॥११॥
काया माया झूठ है, साचन जाणी वीर।
जन हरीदास कांकी, भागी तृषा पी म्रिग त्रिसनाको नीर ॥१२॥

सिंह सदा बन में रहै गीदड़ गरजे आइ।
एक दोहाक धाणकी सहु जै सिर में घाइ ॥१३॥
लोहा बल सूं बोइये तब लग कोटी पाइ।
जन हरीदास पारस मिल्या महंगे मोलि बिकाइ ॥१४॥
जन हरीदास सांची कहूं, साहिबलोकी सूह।
पाहुण कूं करता कहै, ताका काला मीह ॥१५॥
ज्यूं मूरति त्यूं ही सिला राम बसैं सब माहिं।
हरीदास पूरण ब्रह्म पाटि बाँधि कहूं नाहिं ॥१६॥
पांच ततका पूतला रज बीरजकी बूंद।
एक घाटा नीसर्‌या, बांभण पंनी सूद ॥१७॥
मन उलटा चड़्या अकास कूं, पवन सुरति लोहाधि।
जन हरीदास या साधुकै, सदा निरंजन साधि ॥१८॥
इत उत चितवनि छाडिये, ममता मरे तो मारि।
जन हरीदास हीरा जनम, कोडी सटै न हारि ॥१९॥
अजब साधि सांचा सबद, धरे में रहै न कोइ।
जन हरीदास गोविन्द भज, पला न पकड़ै कोइ ॥२०॥
बैरागी माया तज, राम भजन सूं प्रीति।
जन हरीदास ऐसौ कहौं देहीका गुण कीति ॥२१॥
राम भजै निरभै भयो तकी न कोई बोट।
लागी पण भागी नहीं उर पाहुनकी चोट ॥२२॥
सीस उतार्‌या सूरवे छांडी तनकी आस।
अन्तरि रांना एक सूं परम ज्योतिप्रकास ॥२३॥
उसर्डे पैड परम सुप परम साच तहाँ नांहि।
हरीदास जन यूं कहै, निगुरा पहुँचै माहिं ॥२४॥
करम कवाही काम सस मैं तैं भुक्टी मांहि
जन हरीदास जीव जलत है बार्ने कोई मांहि ॥२५॥
जन हरीदास परकाममणी, नैण बांण भरि पाइ।
सतगुर सबद संमाधि करि, रामै बाण बुझाइ ॥२६॥
स्याम बरण सोम्य बुरधि एक अजब अनुराग।
जन हरीदास कोम्या बिगति, कहाँ कोइल कहां काग ॥२७॥

जन हरीदास अदवुद कथा, दोन्यू उजल भाइ।
हस अजब मोती चुगै, बगुला मछी षाइ ॥२८॥
सीतल दिष्टि चकोरकी, चद बसै ता माहि।
जन हरीदास ज्वाला चुगै, देषो दाझै नाहि ॥२९॥
तनमन दे सरवसि दीया, भूषी भामणि पाइ।
जन हरीदास नारी नरकि, बाह पकडि ले जाइ ॥३०॥
साध सगति निरमल सदा, जे मन होवै मेल।
जन हरीदास तिल तेलका, कैमा भया फुलेल ॥३१॥
जन हरीदास चदन सगति, बसै स चदन होइ।
वांस वांस भेदै नही, समया न आपा पोइ ॥३२॥
सूरज वमी कवलका, जन हरीदास मत जोइ।
रवि विगस्या विगसै भला, अस्त रहै मुष गोइ ॥३३॥
जन हरीदास सुत हसका कलपि न करै, अकाज।
भूषा रहै कै मोती चुगै, कुल अपणा की लाज ॥३४॥
करम कडी काठी जडी बाण न लागै कोइ।
मूरिष नर हरि तै विमुष, सदगति सुण्या न कोइ ॥३५॥
जन हरीदास हरिजन मिलै तब ही आणद होइ।
चित कपटी कोई मति मिलै, जाकै अतरि दोइ ॥३६॥
जग दरियाव मैं देह है, माया सेती प्रीति।
हरि दरियाव कू चलत हैं, ऐह हमारी रीति ॥३७॥
जन हरीदास सुष अगम है, सोधि लहै ते सत।
अरस परस आनद सदा, बारा मास बसत ॥३८॥
क्या जाणौ कछु काल्हि है, काई जवाज वाल्हि।
जन हरीदास औसर इहै, तू आणा राम सभालि ॥३९॥
एक रातिका सोवणा, जीवण ऐसा जाणि।
जन हरीदास हरिभजन बिन, ताहू माही हाणि ॥४०॥
षफनी षफन सारिषी, पहरै बिरला कोइ।
जन हरिदास ब्रह्म अगनि मै पैसिकरि, जलि बलि
कोइला होइ ॥४१॥

जोह देषि तर बबूलकी बसे बटाऊ आइ ।
जन हरीदास पैंडा चल्या, सूल गडी सब पाइ ॥४२॥
मन ही सूं मन फेरि कै, मनका तजै बिकार ।
तब जन हरिदास पैडा करै, बाकी रहै न सार ॥४३॥
जन हरीदास तन तेलका सब घटि भरचे भाइ ।
मन पाणी मनसा घटा बरसत भया बिभाइ ॥४४॥
जन हरिदास घटकी घटा, सुरति दामणी देष ।
मन पाणी पाणी मिल्या परस्या नहीं अलेष ॥४५॥
मैं हरि सुष छाडैं नहीं मीठा लागै मोहि ।
करम कठिन सब कंकरा ग्यान सूपनै सोहि ॥४६॥
जलती अगनि बुझाइ करि सीतल कीया सरीर ।
जन हरीदास गुर गम तैं पीया गुमस नीर ॥४७॥
जन हरीदास या जीवकूं, बटकि बटकि समझाइ ।
दूजी दुरमति दूरि करि, हरि चरणों चित लाइ ॥४८॥
अंतरि बिरहा भाईया रोम रोम तन माहि ॥
जन हरीदासकै हरि मिल्यौ, कै अब जीवण नाहि ॥४९॥
जन हरीदासजी कृत कीयी सुनि उपरै अभ्यास ।
जो गावै हिरदै धर, तिनकी पूरवै आस ॥५०॥

पद

[१]

जीयड़ा जाइ कहाँ तू रहसी वे ।
करणहार करतार न जाण्यौ उलझि मोह संगी बहसी वे ॥टेक॥
पापी परच सरापी खोटी तातैं परदुष सहिसी वे ।
राम नाम निज भेद न जाण्यौ, काल चटातैं गहिसी वे ॥
हरि प्रीतम सौं प्रीती न बांधी, झूठ तहाँ जाइ ठहसी वे ।
जब जम मारा मूठ बिसाया, रस न तासवैं कहसी वे ।
जब यह जीवड़ै किया पयांणौ बहुरि न यहु तन महसी वे ।
जन हरीदास माया अपरापनि, बहुत भांति करि बहसी वे ॥

[२]

गाफिल नींद न करीये रे।
जीवण नहीं मरण सिर ऊपरि ता मरणा सौं डरीऐ रे ॥टेक॥
रजनी मोह नींद भरि सूता, परम भेद नही पाया रे।
अति अभिमान बदत नही काहू, हीरा सा जनम गमाया रे ॥ १ ॥
गहि गुर ग्यान जागि जीव जोगी, झूठे भरम भुलाना रे।
हरि सूं विमुष नाचि नाना बिधि, छाडि चले सुलताना रे ॥ २ ॥
आयो था तू साचै सौदे, काचै लागी भाई रे।
हटवाड़्या हम बिछुरत देष्या, जागो राम दुहाई रे ॥ ३ ॥
अब तू समझि देषि निसि बीती, पैंडा करणा लोई रे।
तसकर बहुत दूरि घर तेरा, साथी सग न कोई रे ॥ ४ ॥
जन हरीदास राम भजिभाई, देषि देषि पाव धरना रे।
हरि दरबार झूठ नही भावै, तिल तिल लेषा भरना रे ॥ ५ ॥

[३]

राम भजन बिन जन्म जुवारी।
चालत है अपणा बित हारी ॥ टेक ॥
रे मत हीण समझि मत लोई।
हरि बिन सगा न सूझै कोई ॥ १ ॥
उनमन लागि गगन रस पीवै।
अपनां जनम सुफल करि जीवै ॥ २ ॥
जन हरीदास गोबिंदे गुण गावै।
सहज समाधि परम पद पावै ॥ ३ ॥

[४]

अवधू आसण बैसण झूठा।
जब लग मन बिसराम न पावै, पष तजि फिरै न पूठा ॥ टेक ॥
ग्यान गुफा जाणै नहीं जोगी, अगम अरथ कहा बूझै।
पांच अगनि में पडि पड़ि दाझै, वा सीतल ठौर न सूझै ॥ १ ॥

बिबिध बिकार बासि अरि इमम, मूँई ध्यान न बारै।
ब्रह्म अगनि आकास न भेदै हो पारा ज्यू मारै ॥ २ ॥
निगम अगम तहाँ लगे न आसण अरध माव मित बाजै।
नगरि माँहि मुगति बसि भूपा, जहाँ तहाँ उठि भाजै ॥ ३ ॥
मन गहि पवन अटकि न उलटा, परम जोम उर धारै।
जन हरीदास निरबास मरम तजि, निरगुण वास बिसतारै ॥ ५ ॥

[५]

आव हमारे आँगणै गृह त्रिभवण राय।
तुम बिन मैं बिलपी फिरूं अवर रह्यौ न जाइ ॥ टेक ॥
कुलकरणी सगली तजी हरि आनद माँही।
तन तजिबेकी बेर है, पति छाँडौं नाहीं ॥ १ ॥
सती पिछाणैं सोच कूं ममा न आंचै हीम।
उन आरम एकै मतै तुम सूं त्यों सीम ॥ २ ॥
आरति ऊणारति भणी मेरा मन माँही।
परस परसकी बेर है पति छाडौ नाहीं ॥ ३ ॥
जन हरीदास हरि सूं कहै, तुम बिन तन छीजै।
प्रेम पियाला पाइ करि, अपणां करि लीजै ॥ ४ ॥

[६]

बाजीगर बाजी रची माया बिसतारा।
बाजी सूं बाजी रमै बाजीगर न्यारा ॥ टेक ॥
काम क्रोध अभिमानका खेल बणाया।
जमधम जीव जहाँ तहाँ बाजी भरमाया ॥ १ ॥
अहं बास ममता चढ़ी मन डारि पसारी।
मोह ढोल बाज सदा नाचे नर नारी ॥ २ ॥
तुप तुप मोटा उरमै माया मद पीया।
ब्रह्मा बिष्न महेश लौं बाजी बसि कीया ॥ ३ ॥
मन चंचल निहचल भया निरभै पद आइ।
जन हरीदास बाजी तज्या बाजीगर पाइ ॥ ४ ॥

[७]

अवधू ऐसा ग्यान बिचारा ।
है हरि अकल सकल बिस ब्यापी, रहै सकल तै न्यारा ॥ टेक ॥
ल्यौ मै अलष अकल अबिनासी, सुरति सुपह मतिजागी ।
गोरष गोपि परसि निधि निरभै, अनहद सीगी बागी ॥ १ ॥
निज पुरि प्राण बसै निति निहचल पवन सुरति सति माला ।
ब्रह्म दोल मै झूलै षेलै, पीवै अगम पीयाला ॥ २ ॥
निकटि नाथ निजरूप निरतरि, नाव निरजन राया ।
जन हरिदास निंदौ को बर्दौ, मन फिर मनहिं समाया ॥ ३ ॥

[८]

सतौ है कोई जोगी जोग जुगति मन जाणै ।
बहती नदी ग्यान कै पारै, बाधि अपूठी आणै ॥ टेक ॥
राजस तामस स्वातिगग्रासै, सेस नाग कू पीवै ।
अलष अधारी आसा राषै, ऐसा जोगी जीवै ॥ १ ॥
सूषिम गली निज रमै राषै, पाच चरण चलि चूरै ।
परम जोतिके परचै षेलै, अनहद सीगी पूरै ॥ २ ॥
सुरति सबाहि सहज घरि धारै, निरमल नेह निवासा ।
जन हरीदास ऐसा जन कोई, देषै अगम तमासा ॥ ३ ॥

[९]

मन रे सो सतगुर मै चेला ।
आनद सहत अगम घरि षेलै, पर्मं जोति सूं मेला ॥ टेक ॥
मन गहि पवन गवन गुरगम तै, पछिम देस पथ जाणै ।
सुरति सबाहि समद मै पैसै, वस्त अमोलिक आणै ॥ १ ॥
स्वारथि की सीर अटकि अरि अवधू, परसि परम निधि देषै ।
ऐ नवनाथ हाथ मै राषै तव दिन लागै लेषै ॥ २ ॥
पाइक पाच ऐक रस रोकै गोरप कडी सलूझै ।
जरणा जडी जोग जत जाणै, सो या अरथहि बूझै ॥ ३ ॥
सुनि मडल मे बैसि निरन्तरि, अणबोल्या नितगावै ।
जन हरीदास सोइ गुर मेरा, जो या अरथ समावै ॥ ४ ॥

[१०]

राम राइ मांगू भगति तुम्हारी । सो तो निविकलप सूं न्यारी ।।टेक।।
रिधि न मांगू सिधि न मांगू, मुक्ति न मांगूं देवा ।
आदि अंत तुम सूं मिलि परसौं यौ आरंभ या सेवा ।। १ ।।
नूमल ग्यांन ध्यांन धुनि नृमल प्रेम प्रीति प्रकासा ।
आसण अचल तहां मन निहचल तुम ठाकुर में दासा ।। २ ।।
संजम सील सांच सति सुमिरण पति सूं प्रीति घनेरी ।
जन हरीदास कूं आस न दूजी दास कहावत तेरी ।। ३ ।।

[११]

मन रे उलटि सहज घर आया । तब लय लागि अवस्था बौराया ।।टेक।।
नाभ कंवल में पवन निरोधौं, तो सतगुरका चेला ।
मन महिं पवन अगम घर लौं कर्क अगम सूं मेला ।। १ ।।
उलटा पेलि गगन पैं पैसौं, सुरति सहज घर मारू ।
परमजोति सौं हिलिमिलि पेलौं, ऐसा अरथ विचारूं ।। २ ।।
जन हरीदास निरमै निधि परसूं, परम सिव में न्हाऊं ।
जठर अगिन में प्राण न होमूं आवा गवण चुकाऊं ।। ३ ।।

[१२]

सती कुबधि काम तें डरीए ।
भवसागर तिरबे कै ताईं देषि देषि पग धरीए ।। टेक ।।
सीया पवन द्वार जम ठाढ़ा, घात पड़ै जब मारै ।
हरिका जन कोई सक न मानै हरि हथियार संभारै ।। १ ।।
सुणि सूरज सुत सबद हमारा, ऐसी कदे न होई ।
गोबिन्दका जन जमकै द्वारे, जात न देष्या कोई ।। २ ।।
मैं मेरा डर संगि करि सीया, धासि उहां कहां मारै ।
साधा से हरिचरणां राष्या, संक्या मूठको धारै ।। ३ ।।
निसि बासुर निरभै गुण गावै, कहि कहि राम पुकारे ।
जन हरिदास प्रगट प्रमेस्वर ताका काज सवारै ।। ४ ।।

[१३]

देव न जाणू तेरा भेव । तुम कैसे सति मानौं सेव ॥ टेक ॥
सदगुर मिलि साच बताया । अगम प्ररहसता कीया माया ॥ १ ॥
ताहि भेद जाणै कोइ नाही । सेष सेझ पोढे जल माही ॥ २ ॥
जल ही मे जल होइ समाया । अगम जोगका भेद न पाया ॥ ३ ॥
भेद लहै सोई गुर मेरा । जन्म जन्म हू ताका चेरा ॥ ४ ॥
इहै विचार पार नही कोई । सालिगराम स राम न होई ॥ ५ ॥
अब तू समझि देषि जिव मेरा । हरि विण और कौंण है तेरा ॥ ६ ॥
हरि निरबध बधन नही आवै । सपट जड्या सो हरि न कहावै ॥ ७ ॥
न्यराकार निरजन राइ । जन हरिदास ताका गुण गाइ ॥ ८ ॥
वो अविनासी बिनसै नाही । दूजा बिनसै आइ जाही ॥ ९ ॥

[१४]

मन रे जगत भूलो जोइ ।
अलषकी गति लषै नाही, भेष भगति न होवू ॥ टेक ॥
तीरथ व्रत सब्र माडे कुली, तहा चाले जाहि ।
झूठ सूं ससार राता, साच देषै नाहि ।
नदी उलटी बहै निस दिन, समद लागी जाई ।
ता समदका कछु भेद भेद दूजा, तू तहा ताली लाइ ।
सो समद अति दुष सुष न व्यापै, जन थाह पावै नाहि ।
ता समद माहीं बसै हसा, हील्या हीरा षाहि ।
भरम जल जब जाणि पीवै, तब पार न पावै वाहि ।
जन हरीदास सकलि जुग बहै, जोरे तामै वह्या स्वामि जाहि ।

[१५]

यूं हम छाड्या जग व्यौहार । सुष थोडा दुष अनत अपार ॥टेक॥
माता पूत पिता नही कोइ । स्वारथि आए मिलापष दोइ ।
बिछडण इहा मिलण नही आगै । तातै मोहि बाजी सी लागै ।
सासु ससुर नही को सारा । यह सब दीसै मोह पसारा ।
कांम हेत जलत है लोइ । तू काहू सगा न तेरा कोइ ।

मनसा मटी मिटी सब दोर । गहि गुर ग्यान बसे निज ठौर ।
जन हरीदास गोबिंद गाइ । छकम बियाणी राम सहाइ ।

[१६]

भवगति अगम बहुर गति बाजी । निद्रा आइ पटा ज्यूं लागी ।
हेत प्रीति दे भांवरि करै निद्रा संग जीवत ही मरै ॥
घटि घटि मांही डाकणि बसै सिवरूप के जीवहि डसे ।
जन हरीदास निद्रा सूं हेत, मंतिकासा मुंह पड़िसी रेत ॥

[१७]

मढ़ा छांडि दूरि कहां जाव ।
पैंडा अगम सुगम साधां सूं गोकल नगर विसंभर गांव ।।टेक।।
सेवग जहां तहां ही स्वामी सबद बिचारी बस्या निज ठौर ।
पूंजी मांपि चपल मति फूटी, चितवतां सब मिन्नी गई दौर ॥ १ ॥
काया कुंभ प्राण जल पूरिक, घटि घटि अलप सुकाया ।
अवगति अगम निरंतरि न्यारा ज्यूं दरपण में छाया ॥ २ ॥
सोच विछोपि परसि परपूरण वार पार कछु नाहीं ।
जन हरीदास इंद्र का रस न्यारा व्यापि रह्या सब मांहि ॥ ३ ॥

[१८]

हरिजन बाघणि देखि डरै ।
सेवा करै प्राण तन सोखै सूपिम अगनि जरै ।।टेक।।
अबला कहै पणि सबला पावै, जाणै कोई मांही ।
जप तप सूप्या मूल उपाई मीठी दे दे मांही ॥ १ ॥
मिया कहै पणि तुरत पराल, सूपिम बीर बलावै ।
कोवा सुतड़ा कानै डारै सारस कस चुणि पावै ॥ २ ॥
या कांमणि कू मति कोई भीजी, कांम कटक ले आवै ।
काया कोट चोट सूं तोड़ै पली चोट समावै ॥ ३ ॥
जन हरीदास क्या हरि रस पीया ते मतिवाला माता ।
तिमके बाघणि निकट न आवै परम तेज रंगिराता ॥ ४ ॥

[१९]

समद नीर माछली विरोलै, सूषिम सीरा पीवै ॥
पैली कथा परम पद सुणता, मन मीडका न जीवै ॥टेक॥
जब ही सुणै तबै दुष पावै, पुपतै साद पुकारै ।
मायाकी छायामें बैठा, कूला अर्थ विचारै ॥ १ ॥
निरभै कहै रहै भै माही, सुरति सुपहै नही लागी ।
नाव निरूपनि कटि नही न्यारा, करम भालि कठ लागी ॥ २ ॥
अतरि नैत तहा हरि नेरा, वै निज आषि निझाणी ।
जन हरीदास ताका सग परिहरि, ले बूडै बिन पाणी ॥ ३ ॥

[२०]

घट घट गोपी घट घट कान्है, आनद रूप सकल घट राम ॥टेक॥
घटि घटि नारद घटि घटि सेस, घटि घटि ब्रह्मा विष्न महेस ।
घटि घटि घू देषौ धरि ध्यान, घटि घटि भीव भरत उनमान ।
घटि घटि ममता घटि घटि मोह । घटि घटि कचन घटि घटि लोह ॥
घटि घटि आवै घटि घटि जाइ । घटि घटि षेलै घटि घटि षाइ ।
घटि घटि रावण लक दवार । घटि घटि कैरो सेनि अपार ।
सूता गोरष लीया जगाइ । जन हरीदास ताकी बलि जाइ ॥

[२१]

जे लागी तौ जागिरे, सूतौ क्यूं हारै ॥
सतगुर कैसर वेधीया, कहि क्यूं न पुकारै ॥ टेक ॥
सबद तीर ताता परा, लागै तौ मारै ।
कोड्या मधे एक कौ तन चोट सहारै ॥ १ ॥
अभिअतरि भलका रह्या, सतगुरका लाया ।
नष सष लू सालै नही, तौ षाली बाह्या ॥ २ ॥
करम कडी काठी जडी ममताकै धागै ।
जन हरीदास ता जीवकै, तनि चोट न लागै ॥ ३ ॥

[२२]

सपी री अब पीवकै मनि भाई।
उड़ि उड़ि जाइ पतग रग कपरो हरि रग चढ़यो न जाई ॥टेक॥
औगण बहौत सीख नही साची बहौत करी संगराई।
सौकणि सकल भेरती थाकी, पीव प्रगट सेज बुलाई ॥ १ ॥
रूप दरस मोपै कछ नाहीं तन सिणगार न कीया।
सांसो इहै रेंणि दिन ब्यापै पीव क्यू आदर दीया ॥ २ ॥
जन हरीदास सांसा सब भागा, तब पीव खबरै साई।
बांह पकड़ि हरि अदरि लीन्हीं जमकी मिटी दुहाई ॥ ३ ॥

[२३]

तुम बिन मिटत न जांणी पीर।
धनक धूरि ओपू सगि मेरै मैं बासी बलबीर ॥ टेक ॥
मेरा करम मूलका भागू ताकूं परी तनि भीर।
बेड़ी कठिन कही क्यू काटूं कुल मरजाद जंजीर ॥ १ ॥
औगण बहौत भजन महि कोया ममकी मती अधीर।
भौजल भार पार कछु नाहीं क्यूं करि पकडूं तीर ॥ २ ॥
है हरि अकल सकल बिसब्यापी मै कांचै करवै नीर।
जन हरीदास चरणां का चेरा सरणि राषि रघुबीर ॥ ३ ॥

[२४]

तुम्ह हरि बसो मदिर आइ।
नैंन निसदिन झरत नीझर, प्रांन पीव बिन जाइ ॥ टेक ॥
आरती अस्थान आतुर, बिरह बिसहु दिपाइ।
मन भया ब्याकुल कब मिलौगे, सकल ब्यापी राइ ॥ १ ॥
हरि नाव निज पंथ सदा हेर्के आन पथ न सुहाइ।
पीव पीड़ि दुष दूरि कीजै देव दरस दिपाइ ॥ २ ॥
तुम जागत हो कहूं कामूं कहत न आवै काइ।
जन हरीदास यूं दीदार दीजै, प्रेम प्रीति चपाइ ॥ ३ ॥

[२५]

सषी हो गगन गरजि घन आए ।
सुणि सुणि सबद कवल निज विगसत अतरि अलष लषाए ।।टेक।।
सेझ सुहाग भाग बड ग्वालणि, ब्रह्म छोता सुष पाए ।
मन मैमत रामरस मातो, धँसि सुष सागर न्हाए ।। १ ।।
मोर मगन चात्रिग सुष चितवत, वीज चमकि झडै लाए ।
अनहद सबद गोपि धुनि गरजत, पीव मिलि प्रेम बढाए ।। २ ।।
मथुरा मडल होत अति आनद, वेलि वधत बन छाए ।
जन हरीदास जल पूरि परमगति, परम जोग पति पाए ।। ३ ।।

[२६]

अवधू गुर विन ग्यान न लाभै ।
कहा भयो जे दामणि दरसो, जल बिन ओछै आभै ।। टेक ।।
जब लग निज तत निजरि न दरसै, तब लग प्यास न भाजै ।
कहा भयो जे सूकै भाडै षाली बाई गाजै ।। १ ।।
नौघण घटा गरजि जब बरसै, तब हाली सुष पावै ।
आरभ करै साषि व्है सान्ही, कसिकसि करज चुकावै ।। २ ।।
जन हरीदास दोष तज दुरभष, राम रसाइण पीवै ।
बूठै मेह यह मारुति पलटै, परचै लागा जीवै ।। ३ ।।

[२७]

बेली लो तनबेली लौ, काटी बेलि बधैली लौ ।टेक।।
चद सूर दोउ सम करि राख्या, सास सबद सग लाया लौ ।
गगा मूल तहाँ रस उलटै, बेलित कौ रस षाया लो ।। १ ।।
निज निरसिंध आगह अभिअतरि, बरण विबरजत वाणी लौ ।
इला पिंगला सुषमनि मेला, ता सुष बेलि समानी लो ।। २ ।।
तरवर अगम अणी तहाँ लागी, बलि कीया विस्तारा लो ।
काटी बेलि अमर फल लागा, विन काटी फल षारा लो ।। ३ ।।
वास विकट कोई पान न पडे मृग वसै ता माही लो ।
पाइक पाच पहरवा राख्या उदय अस्त दोइ नाही लो ।। ४ ।।
गगन मडल मे बेलि विलूधी, मूल मता मैं आया लो ।
जन हरीदास आतमा कै अतरि, सतगुर साच बताया लो ।। ५ ।।

[२८]

रावहीयां जात सिरांणीं ।
पीव बिन प्रांण तरस तलफत है ज्यूं मछली बिन पांणी ।।टेक।।
अंतरि चोट बिरहकी लागी नष सिष चोट समांणी ।
बिकल भई हरि अजहुं न आये हरि जांणत है मैं जांणी ।। १ ।।
जांण प्रवीन परम सुषदाता निरगुण मोह बिनांणी ।
प्रीती बिचारि मिलों प्रमानंद अबला नहीं बिडांणी ।। २ ।।
कहा कहीए कछू कहत नहीं आवे उनमनि रहत समांणीं ।
जन हरिदास हरि सूं मनमान्या, आदि अंति सुषदांणी ।। ३ ।।

[२९]

सतगुर दीया भेद बताइ । रहे राम दूजा सब जाइ ।।टेक।।
धरी देह तेता आकार सोचमू कहीए सिरजनहार ।
जाके राग दोष कछु व्यापे नाहिं सोई रमताराम सकल घट माहिं ।।
भगत हेत कोई भगत पठाया आप अगाध वहां नहीं आया ।
पहर्‌या भेष मिटी भकभूरि नैड़ा राम बतावे दूरि ।
दस औतार कहधी क्यूं माया हरि औतार असंत करि आया ।
जसि यसि जोव जिता औतार जलतसि ज्यूं देवो तत सार ।
हरि अपार पारकी नाहीं साधू जन पेस ता माहिं ।
जन हरीदास भजि केवल राम, सुमत राम वहां बिसराम ।

[३०]

आरती जन जीवनि देवा । आतम अगर निरंतरि सेवा ।।टेक।।
चित चौकी हरि चरणां धरिहौं आतमकंवल सिंघासन करिहौं ।
दीपग ग्यांन सबद उजीयारा पांचूं पहोप सुरतिकी माला ।
प्रीती परखिल्यो चंदन ल्याऊं प्रेमकलस ले कमल बदाऊं ।
सूभो सांच ग्यान करि झारी बहो बिधि चरचूं देव मुरारी ।।
सुमत नेह चवर करि जनकै गगनमंडल में झालरी ठमकै ।
जन हरिदास भया मन मंजन आतम आरति कारी निरंजन ।।

तुरसीदासजीकी बानी

साषी

गुरपद रज बदन जु करि, सत जनउकी सेव ।
तुरसी ऐसे सुमरि कै, जनम सुफल करि लव ॥ १ ॥

गुर समद्रउ ते अधिक, गरवा गहुरा सोइ ।
तुरसी ता पटनरउकू, बस्त न त्रिभवन कोइ ॥ २ ॥

धनि सतगुर धनि सतजन, धनि वे सम्रथ राम ।
जिनि निजि अपना कर लीया, अरपि आपनौ नाम ॥ ३ ॥

पारसइ ते परमगुरु, तुरसी अधिक प्रवान ।
पारस धातहि कनक करि, गुर करै आप समान ॥ ४ ॥

तुरसी चिंतामनि गुर चरन, सोई चित मैं धारि ।
चितवत ही चिंता हरै, मिलिहि महाफल चारि ॥ ५ ॥

गुर चद्रमा चकोर सिष, होइ रहा लै लीन ।
तुरसी अचवै अमी रस, होइ होइ अति आधीन ॥ ६ ॥

गुर घन ह्वै मुष तै श्रवै, सबद सुधा रसधार ।
तुरसो सिष चात्रिग होइ, अँचवै बारबार ॥ ७ ॥

तुरसी निकट होउ अथवा दूरि, बचन बाण लगि जाइ ।
सूर बीर सतगुर को, तलफन बीतै ताहि ॥ ८ ॥

ज्यू रवि निकटि जु कवलके, दूरि कहै ते दूरि ।
तुरसी तेई दूरि हैं, वे तो सदा हजूरि ॥ ९ ॥

तुरसी पूरब पुनि तै पाइये, अैसा सतगुर सोइ ।
षीरनीर लौ निनि करिन, प्रकृत पुरष ए दोइ ॥ १० ॥

रुतिवती त्रिय त्रिय मिलै, तौ कारन रहै न कोइ ।
तुरसी परसै पुरुष कूं, तत फल पावै सोइ ॥ ११ ॥

लोभी कूं लोभी मिलैं, कथा कहैं बहु भाँति।
बिन निरलोभी गुर बिना तुरसी मिटै न भ्रांति ॥१२॥
सेवा सुमिलागा रहै, फल कोमना मिटाइ।
तुरसी यह स्वातिग मही मक्तिसिरोमनि राइ ॥१३॥
बकता है सुपदेवसी श्रोता प्रीछत समान।
तुरसी तब मन ऊपजै उतपर आतमा ग्यान ॥१४॥
मोरीकरि जनि जानिए, प्रमुकी भजन बबेक।
तुरसी कनिका अगनिकी दाहत दार अनेक ॥१५॥
भावै बाहरि बहु बचन होइ, मामें बकउ अनत।
तुरसी थिमकि न थिरमई सुमिरन गाता संत ॥१६॥
दृस्य रूप मन ना लगै अदृस्य सख्यौ न जाइ।
तुरसी अदृस्य लखे बिना, मोमनि नां पतिआइ ॥१७॥
तुरसी निरगुन रामजी, सरगुन सतगुर साध।
निरगुन सरगुन ए दुम कहथा और इतर भ्रम बाद ॥१८॥
कोऊ चहै मन मानकूं कोऊ मान सुहाग।
दास चहै हरि भगतिकूं मेटनकूं दुष दाग ॥१९॥
तुरसी ना निंदै ना बंदई, ना हरषै बिलमाइ।
मगन रहै हरिसेव में, सो सेवग सतिभाइ ॥२०॥
तुरसी तम मन आतमा करउ समरपन राम।
ताका ताहि दे उरिन होइ छाडउ सकल सकाम ॥२१॥
प्रेम मक्ति पाए पुके एं सच्छनि परवान।
तुरसी सुधि सरीरकी रही न कोई ग्यान ॥२२॥
प्रेम भगति उतपन मई पूरन ससिसौं सोइ।
तुरसी तहां त्रिय तापकी ज्वाला रही न कोइ ॥२३॥
तुरसी बिरहनि बापुरी अतिमति रहै उदास।
पीव मिलन कै कारनैं अवरि बाढ़ी प्यास ॥२४॥
कब मिलिहौ कब भेटिहौं, कब देषिउ मैं पाइ।
जिमि पाइनकी बीछुरे, बहु दिन गए बिहाइ ॥२५॥

ज्यूं मछरी जलकूं चहै, चात्रिग घनकी प्यास।
यूं बिरहनि हरि दरसकूं, तरफि तरफि तरसात ॥२६॥
श्रवन सुननकी सुधि गई, रसना रटै न आन।
नैन रहे एक टक होइ, देषनको पिव प्रान ॥२७॥
हम तन मन तुमकूं दिया, तुम क्यों रहे दुराइ।
दुरे न बनिहै साइयां, सनमूष दरस दिषाइ ॥२८॥
बिरहनि बौरी होइ रही, तनकी सुधि बिसराइ।
का जानूं कब मिलहिंगे, परम सनेही आइ ॥२९॥
तुरसी आसिक एक अरूपके, साँचे ब्रिरही सोइ।
और रूपनि की आस करि, रहै फासकी होइ ॥३०॥
नैननि अगन नाथ कूं, देषूं नीके निरताइ।
तुरसी पलक पट लाइकै राषूं मधि समाइ ॥३१॥
अजहुं न आए रामजी, कहां रहे ब्रिरमाइ।
पलक पलक छिनछिन जु यह, औसर बीतो जाइ ॥३२॥
तुरसी पानी माही प्रगटी, पावक एक प्रचड।
सप्तदीप साबति रहे, दगध कीए नव षड ॥३३॥
तुरसीदास ग्याना अगनि, लगी नीर लौं सोइ।
जगत्र जलि ज्वाला भया, देषौ उलटी होइ ॥३४॥
तुरसी ग्यान बान लाग्यो जु जिन, करि गए करम जजीर,
राम नाम सूं रचि रहे, ज्यूं रचि नाम कबीर ॥३५॥
परम जोतिके पटतरै, परम जोति ही आहि।
और पटतरकौ नही, तुरसी या जगमाहि ॥३६॥
तुरसी मधुकर रूपी मन महु, कवल षटचक्र सोइ।
परचै सुगध सुवासना, ता सुष मे रह्या भोइ ॥३७॥
अमृत पीया अघाइ कै, भागी त्रिस्ना चाहि।
तुरसी मन पूरन भया, बहुरि न जाचै काहि ॥३८॥
कोउ कोउ सहस्र कवलके, तुरसी बासी होइ।
ता रस मे रस लुबुध होइ, रहे रसीले होइ ॥३९॥

एक बीज मरि भस्म भयो, एक बरि रहि गयो सार।
पै उभे उपल मूं आपा अगनि प्रजार ॥४०॥
तुरसी अनत लोक ब्रह्मांड महि ऐसा मिष्ठ न कोइ।
जसा मीठा राम रस रहे संत वहाँ मोइ ॥४१॥
तुरसी सृष्टी सुपनकी, रही संभार न कोइ।
महामति धारे होइ गए, भषे अमीरस सोइ ॥४२॥
जावत अजर जर नहीं, अमर न मरई आइ।
तावत अथिर न थिर रहै, तुरसी थिरि थिरि थाइ ॥४३॥
तुरसी पतिव्रत पपीहा को भलो, देषो किनि निरताइ।
क अचवै मम नीर कूं कै प्यासा मरि जाइ ॥४४॥
मन बिचरै बाजार मे जग जग जाग सोइ।
तुरसी तनि पतिव्रत गहै, रही मुषि मौनि सजोइ ॥४५॥
होइ माए आकास में, बादर छिनक मझार।
तुरसी छिन में फटि गए, तैसो यह संसार ॥४६॥
करत प्रीति घट घटनिसौं, गयो बीति तन सोइ।
तुरसी अजहूं न चेतई यह अग्यानी लोइ ॥४७॥
यह मन मारै सकल कूं मन कूं बिरला कोइ।
तुरसी मन कूं मारि है पावेंगे सुष सोइ ॥४८॥
जब मन अपनी ब्रतिकूं बिसरि ब्रह्म होइ लीन।
तुरसी तब यहइ जु मन, होइ ब्रह्म सर्वग्यका मीन ॥४९॥
जोवत बोते बरष बहु उरघ चढ़ावत सोइ।
ठामन कौं गिर सिलासौं, उतरत बार न होइ ॥५०॥
एक रंग दूजौ धरै, परै बहाबनि मांहि।
तुरसी तौं मौ फटकि मन, हीराकपी नांहि ॥५१॥
बिया कपहि देषिकरि, जौ उठत उर आगि।
तौं सौं तुरसी कोन मन छद्यो न बिषिया दाग ॥५२॥
तुरसी मारग पीबकी, ज्यूं पंछी आकास।
पुर पोजत पइये नही, महा अगम पत तास ॥५३॥

तुरसी उलटा पथ यह, सूधा पथ नाही।
सूधे चले सु बहि गये, बिषिया नदी माँही ॥५४॥
तुरसी काटि जु फंद यह, गया गिगन घर सोइ।
अलष रूपमें मिलि रह्या, बहुरि न आवन होइ ॥५५॥
तुरसी सकल्प जनम है, विकलप मरन प्रवांन।
जनम मरन यह हम कहा, और कह्यौ कोउ आन ॥५६॥
कै मिटै बिरकत बैराग सूं, कै हरिभगति कराइ।
और मिटन या रोग कू, नाहिन आन उपाइ ॥५७॥
जैसी ही माया चपल, तैसो ही चचल मन।
तुरसी उभै रिपन बिच, क्यो निरबहही जन ॥५८॥
घर घरनी सब त्यागि कै, ले जु गए बैराग।
तुरसी माया मोहि कै, तिनहू लाया दाग ॥५९॥
बाजीगरहि बिसारि कै, बाजी मे भए लीन।
तुरसीदास नर अध रे, अघ कमाई कीन्ह ॥६०॥
तुरसी प्रतिमादिकन कू, करि पूजै भगवान।
सूछिम कूं जानै नही, यह तामसी जु ग्यान ॥६१॥
तुरसी सरधा सात्वगी, सत जनन की माइ।
पालै पोषै प्रीति सूं, अमृत पान कराइ ॥६२॥
रजगुन तजो विसेष सूं, तम गुन धरो उठाइ।
तीजें आसनि बैठिके, चौथे रहो समाइ ॥६३॥
जिन बोलनकी सक्ष्या नही, काढै बचन कठोर।
तुरसी वे परतछि पसू, सत जनाके चोर ॥६४॥
सतनिकी बाणि मुसै, जानि बूझि जे जीव।
तुरसी ऐसे पतितन सूं, क्यूं परसन होवे पीव ॥६५॥
करनी पूरा चाहिए, कथनी होइ न होइ।
तुरसी हरि दरबारमै, दादि लहैगा सोइ ॥६६॥
तुरसी केते कहि गए, किते कहैगे आइ।
किते भी अजहू कहत है, पै रहनी रहया न जाइ ॥६७॥

मैननि मांहीं नति करै धरि धरि नाना रूप।
तुरसी ताहि न मु ना लये, लये कोऊ अवधूत ॥६८॥
तुरसी मैन चपल नहीं चपल और ही चोर।
जो मैना नचायो करै नर नारीकी ओर ॥६९॥
तुरसी सोभा कूं कोउ नहीं, तीनों लोक मझार।
जो इह मद विसरि गया कौन पुरुष को नारि ॥७०॥
भगिनि बहो नवीयां बहो भल कुंवर भार धाइ।
ए कू नास रहो प्रीति कूं, पै सील गयो न सुहाइ ॥७१॥
तुरसी कहिबो सांच को कठिन पड़ेकी धार।
सांच कहे वन कूं परे, कोप करे संसार ॥७२॥
तुरसी इक विषया असयुक्तत, इक अति सूछिम सोइ।
सकल मिथ्याको मूल ए गत बिन मकति न होइ ॥७३॥
परतछि पूजें पषाण कूं करि करि बहुत पियारि।
जिन हूं प्राण पिंड जीव दिया सो प्रभु धरमा बिसारि ॥७४॥
तन उजल करि उदिक में मनहिं कालिमा काम।
यह सेवा यह बन्दगी, तुरसी रिझें न राम ॥७५॥
दीपक को बल ताव लग ज्यांवत रजनी रही छाद।
तुरसी भांन उदै भये, दीपग जाइ बिलाइ ॥७६॥
ऊंच नीच सब चरनि में बरति रही इक जोति।
काहूं निंदिए चाइ क, काकी करिए छोति ॥७७॥
जनम नीच कहीए नहीं, जो क्रम उत्तम होइ।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोइ ॥७८॥
तुरसी भय न भूमिए भजीए राजाराम।
भैयूं ही सांई मिले, ती को सुमिर हरिनाम ॥७९॥
काहे कूं व्याकरण पढि सरम करत यह देह।
एते ही न नाम सब तजि बिषियन को नेह ॥८०॥
तुरसी संगति साधको, सिवस्रीरर सौं छोन।
सबदन सकसा फेरि कैं, काटनि टारै पोइ ॥८१॥

सांच सपन न सुहावई, सीलहि बैठा षोइ।
सतसग पारस का करै, जौ लौं परसे न प्रीति सजोइ ॥८२॥
कचन कांचै सम गिनै, कामिनि काष्ठ पपान।
तुरसी ऐसे सतजन, प्रतछ ब्रह्म समान ॥८३॥
मनसा चलै न मनडिगै, मैं तैं उपजै नाही।
तुरसी ऐसे सतके, समुझि देखि बहु नाहि ॥८४॥
अहंकारकी अगनि मे, जरत सकल ससार।
तुरसी हरिजन हूँ जरै, तौ भजन कौन अधिकार ॥८५॥
सपतदीप नवषड भू, तीन लोक कै मांहि।
तुरसी स्वाति समान सुप, और कोऊ दूजा नांहि ॥८६॥
घट ही मै अमृत वसै, घट ही मै विप जोइ।
विष तजि अमृत कूं पीवै, हस गियानी सोइ ॥८७॥
सब कोउ वाछै मुकतिफल, मारगि लागे जाहि।
तुरसी ब्रह्म बिचार बिन, गमि काहू की नांहि ॥८८॥
महागासी गज वेलिकी, अैसो गुरु कौ ज्ञान।
तुरसी वृथा न षोइये, वेधि वेधि पाषान ॥८९॥
तुरसी पानी मै बूडै नही, पावक सकै न दाहि।
पवन उडाया न डडै, सो पीव हमारा आहि ॥९०॥
जाकै पाणि न पद वयण, नैन नासिका नाहि।
तुरसी ऐसा परम तत, व्यापि रह्यो सब्र माहि ॥९१॥
ज्यूं जलसूं झष ऊपजी, जल ही माझ रहाहि।
जल लागे जीवै नही, अरथ इतौ ही आहि ॥९२॥
यूं बिषै न सूं मन भया, श्रुति सुमृति जू कहांहि।
तुरसी सो मन तब मरै, जब विषै रहति होइ माहि ॥९३॥
गुन निहरागी सतजन, सुधि पावैगे सोइ।
तुरसी या बैराग की, सुराग गमि नहिं कोइ ॥९४॥
मुगधन कै पानै परी, बिद्या आध्यातम सार।
छाजन भोजन कारनै, बेची घर घर द्वार ॥९५॥

कंचन ही तजिबौ सुगम, सुगम तजन त्रिय नेह।
निंदा असतुति त्यागिबौ, तुरसी दुलभ एह ॥९६॥
दुष ही का सुष करि लिया, अज्ञानता उपाइ।
ज्यूं मृग मिथ्या मानि जल फिरि फिरि भटका षाइ ॥९७॥
रोग षतावत ताव मग, मावन समझ ग्रांम।
ग्रांन वोषदी आचरै, तौ होइ निरोगी प्रांन ॥९८॥
तुरसी आप लषे बिन, आप आप कौ कास।
महासत्र होइ पीरवै नहीं तो सुतह वयास ॥९९॥
सुरसी प्रमातम जीव यह छलिता छिन्न सुभाइ।
भगति जोग बराग कौ, सब फल बैठे पाइ ॥१००॥

—०—

पद

राग सोरठी

[१]

धनि धनि पीव की रजधानी हो ।
सुरनर मुनि जाकै उलगाणा, इद्र घुरै नीसानी हो ।। टेक ।।
ऒनी आप जमाइ जुगति स्यूं, मारुति माहि समानी हो ।
अंबर अघर घर्‌यौ बिन षभा, चद सूर अगिवानी हो ।। १ ।।
ब्रह्मा कुलाल कुमेर भडारी, चित्र बिचित्र लिषतानी हो ।
घरम राइ जाकै कोटवाल, छपन कोडि भरै पानी हो ।। २ ।।
सेस सहस मुषि कीरत गावै, नारदसे मुनि ग्यानी हो ।
सनकादिक जाकै ब्रह्मचारी, सकरसे मुनि ध्यानी हो ।। ३ ।।
सब देवन मै देव गुसाईं, सबके अतरजामी हो ।
अरघ उरघ मधि तुम्ह ही व्यापिक तीनि लोक सिरिनामी हो ।।४ ।।
जैसे नदीया समदि समानी, बहोरि न उलघै पानी हो ।
जन तुरसी मिलि रह्या परसिपरि, सबद रह्या सहबानी हो ।। ५ ।।

[२]

मन बनिजारा रे भाई ।
दिना दस ब्योपार करि ले, गुर ग्यांन लै साईं ।। टेक ।।
नर नाराइण देह, पूरब पुनि तें पाई ।
भजन बिना पछिताइगो, जब समै चलि जाई ।। १ ।।
ससार सहर बाजार माही, तू भूलि मति जाई ।
घकाघकी तहँ पाइये, हरि नाव बिसराई ।। २ ।।
जा कारनि बहु करम करते, रैणि दिन ध्याई ।
सगि न कोई चालि है, जम पकरि ले जाई ।। ३ ।।
समझ सौंज सवारि अपनी, रैणि पडि जाई ।
पच चोर महाबली, तोहिं हरहिंगे आई ।। ४ ।।
चेतन पहरै जागि निस दिन, सोई मति जाई ।
यहु औसर बहोरि न, तोहि कहू समझाई ।। ५ ।।
ब्रह्म बस्त बिसाहि कै हम लादि चले ले भाई ।
जन तुरसी बनिजारिया, जन ठांट पहुँचाई ।। ६ ।।

[३]

मन रे हरि मारग है ऐसा। पांडा-धार सगीन फस जैसा ।।टेक।।
कायर कंपै बहु मारा चलि सकै न ऐकस मारा।
फफकि फफकि रहै मारा, दुष-सुष दरिया मंझारा ।। १ ।।
जौ कबहूँ जग छिटकावै तौ जम-मय चित लावै।
लालच लोभ न छूटै, छातै पकड़ि पकड़ि जम लूटै ।। २ ।।
जिनकी माया मीठी लागै ताको कहा चलण है आगै।
आगै चलि है जन सोई, जिन अहंम मत बुधि पोई ।। ३ ।।
जिन छांडी मनकी आसा धरि रहै हरि पद सूँ बिसवासा।
तुरसी पहुंचै पद माहीं जैसे सलिता सिंध समाहीं ।। ४ ।।

[४]

राग गोडी

मन मेरे सांची बात सुनाऊं रे।
रजगुण छांणि रक होइ भजि, तौ पहुँचै निज ठाऊं रे ।।टेक।।
जब लग काम क्रोध घट मांही, तब लग सचु नहि पाऊं रे।
माया मोह तजि दूजी आसा, तौ आनंद पद दरसाऊं रे ।। १ ।।
पांचू चूरि दूरि करि दुबिध्या निगुण भाव मिटाऊं रे।
तब तुरसी सुष सागर मांही हिलिमिलि प्राण समाऊं रे ।। २ ।।

[५]

संतौ सुष माहीं सुष माहीं रे।
सकल सासत्र टेरि पुकारैं, करि करि ऊंची बांहीं रे ।। टेक ।।
प्रथम दुष अंगीकार करावै, गह तजि बन कूँ जाहीं रे।
जहाँ थिर होइ कैं राग दोषमल तप अगनिमैं जराही रे ।। १ ।।
आसण बांधै निद्रा त्यागै, षुध्या त्रिषा सबै सहाहीं रे।
सीत उसण सम करि हरि सुमरैं निहकामी होइ माहीं रे ।। २ ।।
सुधि भोमिका करै सतजन सुछ दरपण की नांई रे।
तब चित मैं चिद्रूप परकासै, ज्यूँ चंदा जल मांहीं रे ।। ३ ।।
जन तुरसी यह परी कथा है पोटे कीयाँ नाहीं रे।
कूरमसौं उलटा घर आवै, तौ आतम सुष मांहीं रे ।। ४ ।।

[६]

राग जंगली गोडी

रमईया तुम बिन रह्यो न जाइ ।
दया मया करि अदरि मेरै, वेगि मिलिउ किनि आइ ॥ टेक ॥
दीन दुषो दरसन विन दिन दिन, अति गति रहै उदास ।
करम कपाट पोलि सव स्वामी, वेगिन करिउ प्रकास ॥ १ ॥
जैसे हो तैसे तुम प्रगटो, प्रगट दरसन देह ।
विन दरसन मेरो क्यो मनमाने, पल पल छीजै देह ॥ २ ॥
तन मन मेरा तुमही ताईं, का कहौं बहोत बनाई ।
जन तुरसीकूं मिलिउ कृपा करि, वेगि विलब न लाई ॥ ३ ॥

[७]

राग रामकली

है कोऊ सूर सधीर सत जन । मनकी ममता षोवै रे ॥
उलटि आप महि आसन धारै, नाव नदी मल धोवै रे ॥ टेक ॥
काम क्रोध अभिमान आपदा, दुबिध्या दूरि निवारै रे ।
आत्म कै असधान व्रैसि करि, हरिभजि कारिज सारै रे ॥ १ ॥
अचल होइ करि अचलहिं चीन्है, पदमहिं समझि समावै रे ।
जन तुरसी ऐसा जन जोगी, वहुरि न भव जल आवै रे ॥ २ ॥

[८]

मन मेरो मौन मुद्रा गहो ।
राग दोप विसारि जुगके, जुगति माही रहो ॥ टेक ॥
परसिए न कुसग कबहूँ, कालिमा सब दहो ।
निहकाम होइ न्यति ही जु रिद मधि, रामनाम रवि रहो ॥ १ ॥
कोऊ नदो कोऊ वदो, कोऊ कछु अवकहो ।
दुष-सुपकी त्रास अपनै, सीस ऊपरि सहो ॥ २ ॥
ज्यो सिला निरमन जुवनकी, अहै होइ निरवहो ।
जन तुरसी यह सार सब, कुटक वचन काहू न कहो ॥ ३ ॥

[९]

नारी नैन न देखीए सुनीए रे भाई।
तन मन धोरै देखता ठगनी ठगि खाई ॥ टेक ॥
नैन बैन करि बसि करै, रचि भेष बनावै।
षट दरसन जोगी जती सबकूं मुसि खावै ॥ १ ॥
सेवग होइ सेवा करै, मोहै अति भारी।
कणमे कूकस परहरै, ऐसी है नारी ॥ २ ॥
जो नर वासै रूसिकै, फिरि ताहि मनावै।
जानऊ पावै नहीं, अपने बसि लावै ॥ ३ ॥
कोऊ कोऊ जन उबर्‌या जिनि हरिरस पीया।
और जीव छलि बापनी, चुनि चुनि सब लीया ॥ ४ ॥
याका संग मारग तजौ, गुरग्यान विचारी।
जन तुरसी तन मन सौंपिक निजनाथ संभारी ॥ ५ ॥

[१०]

बाबा यहु गति बूझै बिरला कोई।
आतरि कृपा करिहि कृपानिधि सुधि पावै जन सोई ॥ टेक ॥
गहि गुर धरम बसै दरिया महि, जहाँ जाइ थिर होई।
बिन नैनों पूरन पद पेखै, पाप पुंनि मल धोई ॥ १ ॥
जल मैं पैसि जगावै ज्वाला, तामें होमै सोई।
निरभै होइ निरखरि देख, परसि परम सुख सोई ॥ २ ॥
उ माँही आरांम विचारै, सुमिरै ध्यान सजोई।
जन तुरसी एसा जन जोगी बहुरि न जनम सोई ॥ ३ ॥

[११]

बाबा परचै प्रसै प्रान लगे जो जाकी रे।
अचल होइ थिरकी बलि सौ चलि न सकै चित ताकी रे ॥ टेक ॥
नाना रंग उपजै मही कबहूं रुचि भर सौ राखी रे।
सुरति सदा सचरै सलिल सौं परस सिंध सुधा की र ॥ १ ॥

तिल तिल नपति मिटै या तन की, मल नासै मनसा कौ रे ।
मन मैं झाईं परै न काई, होइ स्वरूप हीरा कौ रे ॥ २ ॥
परम जोति परम तेज उदत होइ, प्रगटै नूर परा कौ रे ।
परम अनाहद सुनि सचु पावै, बिलसै सुष सिरा कौ रे ॥ ३ ॥
प्रम अस्थान सुबासा होवै, तहां अभै डर काकौ रे ।
जन तुरसी पद माहि समावै, पेषै घर तुरीया कौ रे ॥ ४ ॥

राग आसावरी

[१२]

बिछोहै पीवकै फूटौ नहीं यहु हीय ।
अजहूँ जीवत क्यौं रह्यौ, महा वजर यह जीय ॥ टेक ॥
बहुतक दिन बिछरे भए सजनी, सुहावई न घन धाम ।
पलक पलक बीतत जु कलप मोहिं, बिन देषे वै राम ॥ १ ॥
धृग मेरी जीवन जु जन्म धृग, धृग मेरी मति एह ।
बिछुरे परम सनेही प्रीतम, देषौ घूं भई केह[1] ॥ २ ॥
सज्या सिघ स्यगार सरप समि, ह्वै लागे मोहि माई ।
बिरह अगनि दारन[2] दौं लागी, बुझै न रही बुझाई ॥ ३ ॥
वहु दिन कहुं आइ है कब मोह्य[3], हसि भेटि है जु राम ।
जन तुरसी मेरे जन्म जन्मके, सरैं सकल ही काम ॥ ४ ॥

[१३]

सतौ ऐसा राम हमारा । कोऊ जानै जानन हारा ॥ टेक ॥
ज्यूं जल मे प्रतिबिंब देषीए, दरपन माही छाया ।
दूधै घृत काष्ट जिम पावक, यूं सब घटि राम राया ॥ १ ॥
कासै नाद बास जैसे पहुपै, ज्यूं तिल तेल समानै ।
पिंडे जीव सीव एसे सब मे, जानै जान सुजानै ॥ २ ॥
वार पार जाकौ कछु नाही, पूरि रह्यौ सब माही ।
गुना अतीत अषिल अभिअतरि, उपजै विनसै नाही ॥ ३ ॥
आदि अत मधि अस्थिर जुगि जुगि, पूरन परमानदा ।
तुरसीदास तास सेवता, छूटि गया दुष ददा ॥ ४ ॥

---

१ कब २ दारुण दव ३ मोहि ।

[१४]

सतो हो सो पंडित अधिकारी ।
धरम गहै अधरम सब त्यागै, निशदिन जपै मुरारी ॥ टेक ॥
काम क्रोध तजि लोभहि दहै, निस्ता उर लावै ।
सांच झूठि भिन भिन करि प्राणी, निजपद मांहि समावै ॥ १ ॥
भरम करम हिरदै नहीं धारै वाद विवाद निवारै ।
वरन नहीं वरनकी शोभा अवरन जस विसतारै ॥ २ ॥
पांच-पचीस मनत मथ परहरि, त्रिगुण दिसै न धावै ।
कहि तुरसी चौथा पद मांही सममुष होइ समावै ॥ ३ ॥

राग सोरठि

[१५]

मन रे सब घटिकरता कहिए, कसे परतीति जु लहिए ॥ टेक ॥
जो सब घटि करता होई, तौ दुख पावै किम कोई ।
यह जनम मरनकी त्रासा क्यौं होइ सकै पीय पासा ॥ १ ॥
जे कहिए सब तै दूरा तौ यहु भी मत नहीं पूरा ।
पुरा मत जौ मधुकोई, तौ हमन चमन क्यौ होई ॥ २ ॥
वे गुण अतीत निरंकारा सब व्यापक सब तैं न्यारा ।
जन तुरसी ऐसे जानी सब साध कहैं परवानी[१] ॥ ३ ॥

[१६]

भाई रे जन जगु माहिम मसा । मिलि रहैं पानी जिमतेसा ॥ टेक ॥
जन जु रमैं उत्तर कूं धनदिन जग दक्षनको धाई ।
यूं अतरा प्रगत अह मगतहि कैसे मत जु मिलाई ॥ १ ॥
जन पारस जगु पाहन रूपी, जन चंदन जगु बंसा[२] ।
जन जु हंस जगु काग कुबुधी दहुँन अतर एसा ॥ २ ॥
जन दिन रवि जगु रैनि पटंतरि, जन कंचन जगु काचा ।
जन अमृत पीवै जगु विषरसभोगी मिलतां न मनसा वाचा ॥ ३ ॥
जन राता अभिअंतरि पीव सूं जगु माया लपटाना ।
तुरसी जन जु मिले पदमाहीं, जगु जम हाथि बिकाना ॥ ४ ॥

---

१ लोग २ प्रमाणी-प्रमाण ३ बाँस

[१७]

राम राम भरमि भूलि सब लोई, तेरा जन बिरला कोई ।। टेक ।।
जल सनान करे बहुतेरे, अंतरि मैल सवाया ।
सतगुर मिल्या न निरमल हूवा, तातै करमऊ हाथि बिकाया ।। १ ।।
पाहन पूजि पूजि जग षीना, तुलछी तोरि दुष दीया ।
यहु पूजा हरि कूं नहिं भावै, जौं लौं चित निरविष न कीया ।। २ ।।
कलिका कीट कहा गति जानै, रचि पचि भेप बनाया ।
अंतरि कपट बिषै सूं राता, रमता राम नही गाया ।। ३ ।।
कहै हंस कहुं बागनि चालै, यहु इचरज मोहिं भारी ।
मुक्ता पद तजि भषि हैं नर विष, रही राम गति न्यारी ।। ४ ।।
तजै दुरास स्वाद लपटता, रमता राम पिछानै ।
सतगुर मिलै तौ यहु गति पइये, और जीवका जानै ।। ५ ।।
भाव प्रेमकी पूजा करि लै, रही एक रस माता ।
जन तुरसी ऐसा जन कोई, अविनासी रंगि राता ।। ६ ।।

[१८]

सूरो सोई साध कहावै, निति साईं के मनि भावै ।। टेक ।।
ग्यान षडग ले मन कूं मारै, पाचौ पिसन[1] बिचारै रे ।
सीस विहूंना जूरै काल सूं, चोडै षेत बुहारै[2] रे ।। १ ।।
पाछा पाव न देइ पलक भरि, सनमुषि होइ सभारै रे ।
गुर परसाद मै वासा तोरे, ऐसा कारिज सारै रे ।। २ ।।
तन मन सीस स्वाम कूं सौंपै, हरि भजि जनम सुधारै रे ।
जन तुरसी सोई गुर मेरा, आप तिरै मोहिं तारै रे ।। ३ ।।

पद १८– १ पिशुन, २ बुहारना

[१९]

तावत नहीं बैराग ।
जावत राम दोष[1] हिरदैते, होइ न आव स्याम ॥ टेक ॥
ऊपरि भेष असेष भीतरि करमनां कौ दाग ।
सोई दाग अमल[2] भए बिन उपजै नहीं अनुराग ॥ १ ॥
कहा भयौ तन तजे माया, छूटे न मन की ताग ।
जागत सोवत तहाँ हीकूँ संचरै पसु भाग ॥ २ ॥
काम क्रोध धन लोभ छूटौ, मिट्यौ न मोह बिभाग ।
त्रिष्ना तरम न बिलानी बंधै न मनसा बाग[3] ॥ ३ ॥
निरमूल हौहि बासना मनकी, सम मसक सम नाग ।
यहु बैराग उदित होइ उर तुरसी तब बड़ भाग ॥ ४ ॥

[२०]

कोऊ प्रीतम आनि मिलावै हो ।
प्यास सखी चात्रिग ज्यौं सजनी दूजा कछू न सुहावै हो ॥ टेक ॥
सेज सिंगार भये पावक समि, छिन छिन बिरह जरावै हो ।
एसो यहु ब्योहार हमारी कोई हरिजीकूँ जाइ सुनावै हो ॥ १ ॥
सोई साध सोई पर उपगारी, यहु उर साल मिटावै हो ।
स्वाति बूंद ज्यौं सांचि सनेही अब मोहि मरत जिवावै हो ॥ २ ॥
कहा करूं करुना मैं स्वामी अब कछु कहत न आवै हो ।
कहा तुरसी बिरहनि ब्याकुलता बिन दरसन दुष पावै हो ॥ ३ ॥

[२१]

धनि धनि गुरदेव हमारा हो ।
जिनिउ कृपाकरि काढि लीये हे बूड़त यहि ससारा हो ॥ टेक ॥
अनेक जनमकी भरमि निवारी सबद दीया ततसारा हो ।
लोह जिहाज चढ़ाइ जुगति सूं पइ उतारे पारा हो ॥ १ ॥

पद १९– १ द्वेष २ विमल ३ बाग (लगाम)

गुपत बस्त प्रगट दिषलाई, प्रगट कीया प्रहारा हो ।
अब तन मन फिरि भये जु पावन, परसि परसि पीव प्यारा हो ।। २ ।।
अविचल बरको बाह गहाई, देकै बहुविधि भारा हो ।
जन तुरसी पूरन सुष पायो, सतगुरकै उनगारा हो ।। ३ ।।

राग धनाश्री

[२३]

कैसे करू तुम्हारी सेवा । तुम निरगुण हरि अलष अभेवा ।।टेक।।
ग्यान ध्यान मै कछू न जानौं, अगम अगाध कैसे जु बखानौं ।। १ ।।
तुम्ह अपार परमति नही कोई, थकिन भये सुर नर मुनि जोई ।। २ ।।
तुम्हारै रगरूप नहि काया, का कहि बरनौं होइ हरि राया ।। ३ ।।
तुरसीदास जन सरनि तुम्हारी, सेव न जानौं देव मुरारी ।। ४ ।।

[२३]

नाथ जी अबकै होह दयाल ।
आयो सरन घरन गुन ब्यापै, क्यौं छूटै उर साल ।।टेक।।
पाच चौर सग रहै सदा ही, औगुन करहि अपारा ।
तुम अटकौ[1] तो बहुरि न ब्यापै, सारा नही हमारा ।। १ ।।
तुम दीन दयाल परम सुषदाता, यहु दुष दूरि निवारो ।
भौसागर मै डूबत है जीव, कर गहि पार उतारो ।। २ ।।
जोगी जती तपो सन्यासी, किनहू मरम न पाया ।
ऐसी माया बाघनि तेरी, जिनि चुनि चुनि सब जगु षाया ।। ३ ।।
करम ब्याधि लागी करना मै, जीव दुषी अति भारी ।
जन तुरसी कै आस तुम्हारी, मेटौ विपति हमारी ।। ४ ।।

[२४]

प्रीति बिना हरि किनहु न पाए ।
उतर, दषिन, पूरब, पछिमका, सब मत बुझि बुझाए ।। टेक ।।
केऊ जटा भगवै करि वसतर, तीरथ कूं उठि घाए ।
बिना भजन विसवास बाहिरे, फिरि फिरि प्रान विराए ।। १ ।।
केऊ जाइ पुरनि मै वैसे, बहुतक कष्ट उठाए ।

पद २३– १. रोको

पावक माहीं उरध पाइ करि, लै लै सीस भुलाए ॥ २ ॥
केऊ मुंडित मुंडित फुनि केऊ केऊ कंद पनि पाए ।
केऊ जाइ गुफा बनि बैसे, पै प्रीति बिना पछिताए ॥ ३ ॥
प्रीति बिना सबही मत काचे वेद पुरानन गाए ।
तुरसी प्रीति करी जिनि पीव सूं ते पीव मांहि समाए ॥ ४ ॥

[२५]

बावनि मारिया रे, साधो सब जुग खाइ ॥
कोऊ कोऊ जन उबरया ज्यां सुमरया रघुराइ ॥ टेक ॥
नैन बैन करि मोहे प्रानी मानो भेष बनाइ ॥
सरपनि सपारे सकल, आपन मारै पाइ ॥ १ ॥
पट दरसनके संगि भई, करि उनही का रंग ।
भागे पुनि छूटे नहीं मारि कीए सत भंग ॥ २ ॥
पंडित गुनी सूर किब दाता सुर, नर मुनिजन पीर ।
सबस बिनासे बावनी काम क्रोधके तीर ॥ ४ ॥
आदि अंति अबिगत अराध्या, परहरि पांच पचीस ।
कहि तुरसी ते ऊबरया साधू बिसवाबीस ॥ ५ ॥

[२६]

कहा कोऊ जाने पीर पराई ।
जाके लग्यो बिरह को भसको सो समझै मेरी माई ॥टेक॥
हरि बिछरे हमसूं सुनि सजनी करवत बहि बहि जाई ॥
है कोऊ उपगारी ऐसा, बहुरि देइ दिपराई ॥ १ ॥
दिवस जात मोंहि हरिमग जोवत, निस तलफतां बिहाई ॥
पीव बिदेस दुमन भए दरसन, बिरह बिथा तनि छाई ॥ २ ॥
बिन दीदार दुखित भई मतिगति, छिनछिन अवधि घिराई ।
तुरसी बिरहनि तब सचु पावै मिलिहि परम सुपन्याई ॥ ३ ॥

[२७]

कहौ धौं कीजै कौन बिचार ।
भवजल अगम पार तस नाही, क्यौ उतरि वौ पार ।।टेक।।
तामहिं मछ काल सा वेता, त्रिष्ना तरग अपार ।।
तरसै जीव अधिक भै मानै, रहै बीचि वहु हार ।। १ ।।
लष चौरासी जीव जतकौ, मोहि अदेसो नाहि ।
सुर नर, मुनिजन पीर अवलीया, थकित भए ता माहि ।। २ ।।
गहौ बबेक मिलउ षेवट कूं, अव जिन करि उव धीर ।
भाव भगति नौका चढि प्राणी, यहि बिध उतरौ तीर ।। ३ ।।
उतरे पार तिनौ सचु पाया, सकल भरम भव भागा ।
तुरसी दास भया जन सद्‌गति, जहांका तहां जाइ लागा ।। ४ ।।

[२८]

अब मैं आयौ सरन तुम्हारी ।
भजनकी मोहिं राम दुहाई, मडीयौ चरन मुरारी ।।टेक।।
यहु ससार झूठ हम देष्या, तामहिं सचु नहिं भाई ।
राम भजन विचि अतर पारै, बिषमहि देइ भुलाई ।। १ ।।
भरम करमका मना दिठावै, भरमावै अति भारी ।
नाव छुडाइ नरक मे बोवै, ऐसे जीव बिकारी ।। २ ।।
झूठी काया झूठी माया, झूठा परपच पसारा ।।
जमकी त्रास अधिक ता माही, तातै कीया प्रहारा ।। ३ ।।
वोछी आव अलप जीवन प्रभु, बिनसत नाहिन बारा ।
जन तुरसी सरनाई आयौ, देहु देहु दीदारा ।। ४ ।।

[२९]

चलौ जीव हमारा, चलिरे जाहिं अपने देस ।।
तहां सुष ही सुष आदि अति मधि, नही दुष कौ अहि लेस ।।टेक।।
जोगी कै तै फेरी दीन्ही, च्यारि दिसावर माहि ।
लष चौरासी होइ फिर्‌यौ, कहूँ सचु पायौ नाहिं ।। १ ।।

कहूँ चतुर पद कहूँ दुपद एक पद कहूँ बहुतन पद पाइ ।
ब्रह्म बिछोहैं तें यहु दुख भुगत्यौ, धरि धरि नामां काइ ॥ २ ॥
अजहूँ समझि सावधान होइ, जगुकी मोह मिटाइ ।
अनत सुरत सौं उलटि गगन धरि, रहिए वा सुपहि समाइ ॥ ३ ॥
या झूठ ब्रह्म में निरंजन, काकरि रह्यो अज्ञान ।
अपनी परम रूप क्यूँ न सभारैं, निरावरन निरबान ॥ ४ ॥
होइ सजाती मिलहु ब्रह्म कूँ बिजाती मल धोइ ।
जन तुरसी जो ये होइ रहौ, क्यूँ बहुरि बिछोह न होइ ॥ ५ ॥

[३०]

गगन में बाजै अनहद बीन ।
मधुर मधुर मांही ही मांही, मन मृग भयौ तहाँ लीन ॥टेक॥
पांचौ थकि थकि रहे तहाँ ही, फिरि न पयानौ कीन ।
नाना नाद आनद फन्द में परि भये बिषै बिहीन ॥ १ ॥
इतवतकी विरतनि सब भूली, चित नाहिं भयो लीन ।
बिछुरे या बिधकी जु बाजी जिन जोगीन अस कीन ॥ २ ॥
जन तुरसी वा सुपकी बात है जहाँ तहाँ प्रत नहीं न ।
ते पूरब तजि पच्छिम जाए तिनही मसै यह बीन्ह ॥ ३ ॥

राग जैतश्री

[३१]

मेरे सकल सनेही रामजी, अब पीव तुम बिन रह्यौ न जाइ ।
अबसा झूरै बरस कूँ जी, पल भरि भूप पिपसाइ ॥ टेक ॥
अति आधीन भई व्याकुलता घर अंगना न सुहाइ ।
ऊठत बैठत कबहूँ न सोवै जागत रैनि बिहाइ ॥ १ ॥
अति आतुरता बिरहनी सुमि साईं रघुराइ ।
सूनी सेज न भावसै, तुम कब रे मिलहुगे आइ ॥ २ ॥
पथ निहारै पल गिनै, आरति हियरै माहि ।
तुमि मिलिबे कूँ जीय तपै बिन देखे चक नाहि ॥ ३ ॥

विलम न कीजै राम जी, आमा पुरबो आइ।
आत्म कूँ मिलि महरि मया करि, तनकी तपति बुझाइ ॥ ४ ॥
जाकै सिर परि तुम धनी, सो क्यू दुषीया नारि।
कृपा करो मेरे सम्रथ साईं, अतर जामी आइ।
तन मन तुझि पर वारन, जन तुरसीदास बलि जाइ ॥ ६ ॥

[३२]

रमईया आवो घरे अब पाव। तुम बिन दुषीया देह ॥ टेक ॥
अबला झूरै दरस कूँ, दरसन देहु दयाल।
तुम अतरगतिकी सब जानो, परम सनेही लाल ॥ १ ॥
तुम सुष सागर सब सुष दाता, सब सुष पूरन देव।
सेज हमारी आइ करि, दरस परस सुष देहु ॥ २ ॥
बिलम न कीजै दरसन दीजै, आत्म असथलि आइ।
तुरसीदास जन वारनै, वरि बेरि, बलि जाइ ॥ ३ ॥

[३३]

बिचालै नदी बहै जी, अब पीव क्यू करि आऊ पार ॥टेक॥
बहै विचालै नदी अप्रबल, औंडी गहिर गभीर।
मैं अबला तिरि न सकूँ, गहूँ किसी बिधि तीर ॥ १ ॥
तामहिं मगर मछ बहुतेरा, केतो उठहिं तरग।
पैली पार मोरा पीव बसै, होइ कहो क्यों सग ॥ २ ॥
है कोऊ तारू ततबेता, पार उतारै मोहि।
साईं सूँ मेला करै, पै बड उपगारी सोइ ॥ ३ ॥
कामी तलफै काम कूँ, ज्यूँ निरधन धनकी पाहि।
जन तुरसी तलफै दरस कूँ, जैसे चात्रिग घन की चाहि ॥ ४ ॥

[३४]

तुमहिं का लागै जु हमहि अपराध मूरि।
तुम तो रोम रोम मै रमि रहे, हम जानही जु दूरि ॥टेक॥
तुम सदा सुध सुछ अमल, आकासवत्, हम मलभरे अज्ञान।
द्वेष्यो चाहै दरस तुम्हारो, करि करि मिथ्या मान ॥ १ ॥

जन तुरसी कहे भाहि यहु असी, कोऊ जानै जान सुजान।
बिसम छांडि भज राम आपनो, सु पेर्प प॰ निर्बान ॥ २॥

[३५]

ऐसे हरि आवहिंगे और उपाइ जु नाहिं ॥टेक॥
ज्यूं चात्रिग घन प्रीति बांधि कै धवन उचार।
चकोर चितव चद द्रिष्टि इत उतनहिं टार ॥ १ ॥
ऐसेही निरख्यौ करै, राम रूप घट मांहिं।
घरी घरी पलही पल छिन छिन, निमष बिसारै नांहि ॥ २ ॥
ज्यूं मछली जल बिना तलफिकै त्याग देहा।
कूरम इंड कुरकटो भुजग सूं, करै सनेहा ॥ ३ ॥
ऐसो सुरति धरि राम सूं, नित ही निरूपे नाम।
निस बासुर लागा रहे तौ क्यों न मिलही वे राम ॥ ४ ॥
कामनि कतबिदेस लागि रही मन ठगौरी।
चित में पर न चैन होइ रही बिकलव बौरी ॥ ५ ॥
उर अंतर करवत बहै बिन देखे वे नाहु।
एम राम बसै जन अपनो तौ मिटै काम दुपदाहु ॥ ६ ॥
तीव्र बगि सजुक्त प्रभू कौ पथ निहारै।
त्राहि त्राहि करिकै जु रामकौ नाम उचारै ॥ ७ ॥
ऐकाग्रह लागा रहै अपनै ही उर अस्थान।
तुरसी छाहि मिलै वे पावन हृषि हरि कृपानिधान ॥ ८ ॥

[३६]

आवैंगे वै राम हमारै उपजा नउम उमाहा।
मप[१]सप मम बुध दूरि करैहिंगे अबसिव निरगुन नाहा ॥टेक॥
निस बासुर ठाढ़ी मग जोऊं, करि करि प्रीति उमाहा।
चातौं कौ यूं मिलौं पीवकै ज्यूं मयद सूं बाहा[३] ॥ १ ॥

उमाहा २ नक्त-शिव ३ नार, नदी नाली प्रवाह।

पीय जीय सधि रहै न कोऊ, घुले कनक लौं काहा ।
जन्म जन्म अरु जुग जुग के, मिटहैं हमारे दाहा ॥ २ ॥
यहु अभिलाषु अति हमारै, और न कोऊ चाहा ।
और चाह चितवनि सब त्यागी, तुम आवौ उर माहा ॥ ३ ॥
तुम तेजपुंज परकास अपरमति, हौ सुष सिंध अथाहा ।
जन तुरसी कौ मिलौ महाप्रभु, अरु पावौ यहु भल लाहा ॥ ४ ॥

[३७]

आए ही बनैगी हौ कंता ! अब कैधौं इहि बार ।
बहुरि बेगि जु मिलन नाही, बीतत अधिक रार ॥टेक॥
वोछे जल लौं जात देही, दिन ही दिन घटती जु ऐंही ।
यह जानि मिलौ हौ सनेही, मो प्रानके प्रेही ॥ १ ॥
बिरहनी मारग जु जोवै, मन ही मन जागै रु रोवै ।
जो प्रभुको दरस होवै, तौही सुषसोवै ॥ २ ॥
तुम आए दुषदद नासै, नष सष अछै आनद प्रकासै ।
नृमल हरिकी जोति भासै, रहै न तम आसै ॥ ३ ॥
मधुर मधुर जु बीन बाजै, बिन ही घन मानौ गगन गाज ।
तुम आए यह राज राजै, काल भै भाजै ॥ ४ ॥
जन तुरसी षाना जाद तेरौ, जुगि जुगि जन्म जन्मको चेरौ ।
अपनौ जानि दरस देउ तेरौ, तौ ही जीवन मेरौ ॥ ५ ॥

[३८]

द्वै द्वै दिनके आहि पाहुने, ताही कूं जानौ रे ।
जिन प्रभु प्रान पिंड जीव दीया, और न उर आनौं रे ॥टेक॥
यहु माया सुष दिवस चारिकौ, पल न प्रीति ठानौ रे ।
देषत ही जबि लै ह्वै जैइ है, ज्यौं वोस[1] बूंद पानौ रे ॥ १ ॥
कहि क्यू करत अडम्बर एते, गढ गूडर घन ध्यानौं रे ।
जोरि जोरि कै षेह मिलाने, किते राव रानौ रे ॥ २ ॥
हस्ती घोरा चवर सिंघासन, नेजे[2] नीसानौं रे ।
करि करि दंभ मिले माटी मैं, सुधरही न सहनानौ रे ॥ ३ ॥

---

१ ओस २ नेजा (एक हथियार)

यह आमिषा बा मोककी भोग सुरति मानो रे।
अलप सुष-सुषकी समूह यह मिथ्या करि मानो रे ॥४॥
पाषौं फरि अपूठा मानो परमतत परवानो रे।
जन तुरसी तौ द्वनद्वन होइ होइ दुषकी हानी रे ॥५॥

राग मालश्री

[३९]

निराधार सूं मन लागो भाई। कैसे करि ठहरावै।
बिन पाइन के पंथ जु चलना ताते कृपा आवै ॥टेक॥
बिनही करन मौत्रर बत्ति करिबौ, बिन जिह्वा गुन गावै।
बिनमाला कर बिन हरि सुमिरन, कैसें धौं होइ आवै ॥१॥
पपीलहूके पावनु फिसल पछी हूं न तहां पावै।
पड धारहुं ते यु मध दुर्लभ, नाम बिनाको पावै ॥२॥
जहां रवि चंद्र तेज नहीं तारा सुतह प्रकास कहावै।
अति अगाहन मह्यौ नहि परई, निगम हू अगम बतावै ॥३॥
पच तीन आवरन बिवरजित द्रिष्टि मष्टि कुन आवै।
सत असत असत सत कछु, कहूं कह्यौ नहीं जावै ॥४॥
जन तुरसी यह अकथ कहानी कहत न कछु बनि आवै।
पूरन ब्रह्म गुरकी कृपा होइ सो मन महु सुख पावै ॥५॥

[४०]

मन मीत हमारे इहां नहीं थिराऊ कोइ रे।
चल्या जाइ सब सोइ रे ॥टेक॥

सकलबवी राजा ह्वै बीते, राममजन बिन भए चुरीते
हाथ मुलावत सोइ रे।
यह जानि अनु ममता निवारी रहौ राम रत होइ रे ॥१॥
रावन कुंभकरन से कैते मा मुष ऊपरि भएसु तेते
काहे न देषौ जोइ रे।
मिथ्या तन धन कौ प्रबकरि करि, वे अंति गए हैं रोइ रे ॥२॥

कैरो पांडू जादू[1] जु जहाँ तो, तन धरि आए जे तेते जु जहाँ लो,
तीन भुवन सब लोइरे ।
सोई सोई इन भूतनि षाए, बच्या जु बिरला कोई रे ॥ ३ ॥
दिन दिन यहु बीते ततन तेरो, कहा करि रह्यो अघ अरझेरो,
करम बासना षोइ रे ।
तीवर होइ राम भजि अपनो, जो चाहै सुष सोइ रे ॥ ४ ॥
मन गहि पवन अपूठा आवो, कूरम लौं उलटि कै समझावो
अपने ही उर थिर होइ रे ।
कीट भृग ह्वै कै लागा रहो, वा साहिब सूं सोइ रे ॥ ५ ॥
यह सब ही सतनकी बानी, सुरति सुमृतिन्हनिहूँ यह बषानी,
सबको निश्चौ सोइ रे ।
जन तुरसी ब्रह्म गलतांन होइ रहो, ज्यू बहुरि बिछोह न होइ रे ॥६॥

[४१]

भाई ब्रह्म ही ब्रह्म कथै सब लोइ । ब्रह्म न चीन्है कोइ ॥
ब्रह्म चीन्हिबो तब बनि आवै, जो मनसा सुषि होइ ॥ टेक ॥
अनदिन बात कहै उत्तरकी, चल्यो जु दक्षन जाई ।
सो उत्तर कहो कैसे पहुँचै, यह समझो मेरे भाई ॥ १ ॥
औरन बिषय बिषवत दिषाव, आपन इद्री पोषै ।
भठिपरो ऐसी पडिताई, जो लो बाहै न सील सतोषै ॥ २ ॥
जन तुरसी यह कथा पावनी, सुनि जू मनन करि लीजै ।
ताही ब्रह्मकू ध्यान जु कीजै, तब भल पहल भलीजै ॥ ३ ॥

राग सारंग

[४२]

नर करहु निरजन सेव रे ।
मनसा बाचा कहूँ करमना, और न दूजा देव रे ॥टेक॥
ऐसी सौंज ब्रहुरि नहिं आवै, कोटि धरउ जे देह रे ।
भाग बडे मनिषा तन पायो, ताहि सुफल करि लेह रे ॥ १ ॥

---

१ यादव

झूठी माया झूठा यहु जग तासूं किसा सनेह रे।
मात पिता सुत सभी तेरे, अंति बिछूरैं ऐह रे॥२॥
बेद पुरान सकल यूं भाषैं साँचि कहै सुषदेव रे।
तुरसीदास जन कहै सत हो तन मन हरिकूं देह रे॥३॥

[४३]

बछा दरसनकी करनी।
और बंछा ऐसे तजि प्रांनी, ज्यूं रवि त्यागै रजनी॥टेक॥
हरि दरसन बेपन के कारन, गहि अकासमत धरनी।
करि करनी सुमि लाइ सुरति मन, चढि रे नाव निसरनी॥१॥
सुरग मृत पाताल लोक लौं, बिषया सबै बिसरनी।
साहि सुदिढ बैराग अभि अंतरि, ऐक ही मूं घर भरनी॥२॥
ज्यूं चात्रिग चितवैं नित घनकू, चकोर ससिकी करनी।
ऐसे चित चिंतं चित माही, चरन कंवलकी सरनी॥३॥
ज्यूं कूरम अग अग उलटावै यूं चितवृत सर करनी।
तुरसी हरि दरसन चिहुंमैं तब आतम गो मरनी॥४॥

[४४]

उलटि चलहु मन हरि चूकी छाँहि।
जहाँ दुष-सुष त्रियताप न ब्यापै रमि रहिए सीतल सुषमाँहि॥टेक॥
जहाँ उतपति परलै कछू नाहीं उदय अस्त दोऊ है नाहीं।
नमल अमल अटल पदपूरन परसत चरन सकल दुष माहि॥१॥
निबधि रहति अर्थ अबि तरवर पछी केलि करहिं तामाहि।
आदि अंत सुषही सुष बिलस निरभै सदा सक कोउ नाहि॥२॥
पुना अतीत अजीत परम पद, परम तेज पंडित कोउ नाहि।
तुरसीदास हुलास सहित सूं, निसदिन बसि बसिए ता माँहि॥३॥

[४५]

री कौनके रह्यो बसक भजन राम राजा।
भवजल तिरी पार गए, सरे सकल काजा॥टेक॥
पुनि की प्रवाह बढ़ पाप प्रचंड भाजा।
होहे महा अधम जीव, सु गगन जाइ बिराजा॥१॥

कटे करम भरम नासे, मिटे दुष दुराजा।
पहुँचे महापद सुधाम सुष, करि प्रीति पाजा ॥ २ ॥
परम जोति देषी जाइ, जहाँ वजे अनहद वाजा।
जन तुरसी भए आनदरूप, अनत भै भ्रमभाजा ॥ ३ ॥

[४६]

देव तुम्ही सूँ पति है मेरी।
मनक्रम बचन सुनहु सुष साई, और न आसी काहू केरी ॥टेक॥
भावै नरक सुरग देउ साई, भावै लष चौरासी फेरी।
भावै सकल सुहाग हरि, राषो निज चरनन करि चेरी ॥ १ ॥
वहुत मिले बहुतै मिलि बिछुरे, काहू सूँ न लगत चित मेरी।
मेरौ चित तुमही तनराच्यो, छाडि दीयौ अग सा जगु केरी ॥ २ ॥
तुम मेरे मात पिता बंधूजन, तुम ही गुर सतगुर, पति मेरी।
जन तुरसी कै और न कोई, एक भरोसी अतरि तेरी ॥ ३ ॥

[४७]

मोहि आरतिवा दरसन की उर, अति गति जारै माई री।
चित चकोर चात्रिग लौ ह्वै रह्यो, देषन कूँ पीव पाई री ॥टेक॥
गोपी एकादस इद्रीए, और वौर मू आई री।
परमन कूँ पद पाप ताप हर, धन बादल लौ धाई री ॥ १ ॥
मीन कहौ जल बिन क्यौं जीवै, अरू कवला कमलाई रे।
उर बिरहा करवत लौ त्रिहरत, बिन सुदर सुपदाई री ॥ २ ॥
हरि बिन हियरौ फाटै सजनी, नैनन नीर वहाई री।
पीव बिदेस दूरि दरसन नाही, अवधि वदी ती जाई री ॥ ३ ॥
अतित आरति देषि समवै, दरवै त्रिभवन राई री।
जन तुरसी कूँ दरसन दीया, आनद बजी वधाई री ॥ ४ ॥

[४८]

तै भगति न जानी प्रानीया।
आदि अति अक्षर पद परहरि, कृत्म रूप रचानीया ॥टेक॥
इत उत हेरत हरि घट माही, कबहु उलटि न जानीया।
उतर दिछन पूरब, पछिम फिरि, फिरि प्रान पिरानीया ॥ १ ॥

पार ब्रह्म सनि करि करि पूजे कै पांहन कै पानीया ।
बतकी बेर सेंबरके फल सौं, पावत सूर उजानीयां ॥ २ ॥
कथनी कथि कथि करम लगाए, चतुराई चित सानीयां ।
भरम त्यागि कै जागि जुगति महि, मन सूं मन न लपटानीयां ॥ ३ ॥
अजहूं चेति मुगध मतिहीना मानि सीप सुनि कानीयां ।
प्रेम प्रीति सूं भजि अबिनासी, तजि बिनसर बे पानीयां ॥ ४ ॥
इहै जोग यह जुगति भगति करि, उलटि आतम अस्थानीयां ।
जन तुरसी कहै सबही दुषनासे मिलहि परम सुषदानीया ॥ ५ ॥

[४९]

चलि चलि मेरे जीय तहां जाइए हो जहां जगत सिरोमनि रांम ।
जनके सकल मनोरथ पुरवन सुंदर सुषकौ धाम ॥टेका॥
जहां बिनही कर तूंबे जु तति बिन, मधुर मधुर धुनि होइ ।
नाना नाद अजेब सुहावे आनंद बढि रह्यौ सोइ ॥ १ ॥
जहां बिनही पावक तेल तूल बिन दीपक बनै सुभाइ ।
अचल उजासौ होइ रह्यौ, तहां तिमिर न परसै आइ ॥ २ ॥
जहां बिनधि मान बाजे बिबधि तहां बिमल रही हरिजोति ।
महा सुमंगल होइ रह्यौ तहां निरति चरम बिन होति ॥ ३ ॥
जहां बिनही देवलि देव बिराजै बिन ही सेव मिलि सेव ।
मनही मन मांहि ही मांही अबिको आतम देव ॥ ४ ॥
जहां बिनही तरवर पहुप फूलि रहे, बिनही बास सुबास ।
बिनही कठि कोकिला बोलै बचन सुहावै तास ॥ ५ ॥
जहां बिनही नीर सरोवर सूभर, अमिति वार नहीं पार ।
जहां बिनही कवल जु कवल पिलि रहे, मधुकर सहै गुंजार ॥ ६ ॥
जहां बिनही पवन पवन सीतल वहै बिन धन वरिया होइ ।
जहां बिनही बीज बिद्रुलता चमकै, तेज पुंजकी सोइ ॥ ७ ॥
जहां न जन्म जुरा जम की मे त्रिबधि ताप कछु नाहिं ।
बिछुरन मिलन मिलन पुनि बिछुरन ऐ बिछेप न ता माहिं ॥ ८ ॥
जहां रबिचद तेज नहीं तारा उदै अस्त नही होइ ।
जन तुरसी परकृति परचव सुष पै सत सबै नस कोइ ॥ ९ ॥

राग मलार

[५०]

हरि विन ए दिन जात दुषारे ।
सकल सिंगार सेज सुप त्यागे, जा दिन ते भये न्यारे ॥ टेक ॥
सुनि री सषी सावन रुति आई, बरषि सबै वन पारे ।
हमरे तन अजहूँ नहि उलट्न, विरह अगनिके जारे ॥ १ ॥
कासूं कहों कौन यह मानै, अंतर करवत सारे ।
मन ही मनहि विसूरि विरहिनी, मुरछि नैन जल ढारे ॥ २ ॥
आरतिवंत आस चात्रिग लौ, सारी रैनि पुकारे ।
जन तुरसी प्रभु प्रीति जानिकै, घन लौं आनि गलारे ॥ ३ ॥

[५१]

बादल वरषन लागे दोइ ।
ररौ ममौ उर माहि उमगि कै जल थल डारे बोइ ॥ टेक ॥
ऊनै आई घटा ज्ञानकी, दामनि दमकत सोइ ।
प्रीति पवन चलि हरि जल बूठौ, इम्रत धारा सोइ ॥ १ ॥
तपति मिटी तन भयो सीतल, सुरति सुधा रसभोइ ।
नष सप नगरी आनंद उपज्यो, सुप विलसै सब कोइ ॥ २ ॥
दुरभक्ष मिटि सुरभण्य उपजानो, दुप दलिद्र गए पोइ ।
तुरसी आदि अंति भई अभैता, मंगल गावै लोइ ॥ ३ ॥

[५२]

भली भई ज्ञान प्रकास भयो ।
मिट्यो जु तिमिर तन मन मुरझानो, कालपिसाइ गयो ॥ टेक ॥
पाप पुंनि कौ उदिम थाक्यो, निर उदिम होइ रह्यो ।
जुरामरन जुगजीति जुगति सूं, हरि मारग निवह्यो ॥ १ ॥
साच झूठ भिनि करि दिपलाए, भरम तजि करम दह्यो ।
नृगुन घृत मथि लीयो जुगति सूं, छाड्यो श्रगुन मह्यो ॥ २ ॥
पंचतत गुनतीन विबरजित, सोई पद उलटि गह्यो ।
जन तुरसी गुरकबीर करता संगि, सकल सुहाग लह्यो ॥ ३ ॥

[५३]

ऐसें द स तुम्हारो यदापि देखा लगै सब जननि कूं प्यारी ।
अदपि असत देपीय ऱ्नी मुप तथापि निदानि पारी ।।टेक।।
ज्यूं चात्रिग पीव पाव पुकार अवर बूंदकी प्यासा ।
प ि धरन जहां तहां जस पूरन तऊ म ताको आसा ।। १ ।।
ज्यूं चकोर चितव चंदा तन ध्यन उत मध नहीं मोरे ।
एकाग्रह इकतान सग्या रह, सुरति लाग नहिं ठौरे ।। २ ।।
ज्यूं निरधन धन छ धारयौ अन ज्यूं प्यासे कूं पानी ।
एसी प्रीति प्रभूको मध भाव, सो पेप अलप विनानी ।। ३ ।।
विषै त्यागि निहराग सुष होइ, सुमिरै साई साई ।
जन तुरसी सो अवगि परम पद पेप तामें मिथ्या नाहीं ।। ४ ।।

राग टोडी

[५४]

आव हो पीव आव हो ।
विरहिन झर दरसन कारनि सईयां दरस दिपाव हो ।। टेक ।।
सेज सवारे पंथ निहारे, तलफत रैन विहावे हो ।
परी उदासी दरस पियासी मिहरदान म्पिसाव हो ।। १ ।।
हम घरि आवौ बिलब न लावौ, प्रेम पियासा पाव[1] हो ।
तुरसीदास दरस पियासा तुम मिलन वा[2] चाव हो ।। २ ।।

[५५]

प्रानमाथ तिनि पाया ।
जिनकी प्रीति लगी अमि अंतरि विमल विमल जस गाया ।। टेक ।।
भए विरसजन आन अलंबन राम नाम लिव लाया ।
गए उलमि या कुतवाला में, बहुरि न इत अगु आया ।। १ ।।
तन मन प्रान अरपि महाप्रभु कूं पांचौ रिप पलटाया ।
जन तुरसी सुप सागर माही सनमुष होइ समाया ।। २ ।।

पद ५४– १ पिलावो २ का

[५६]

निरख्यौ करि निजरूप नेमसूं। बार बार प्रीति अस प्रेमसूं ॥ टेक ॥
अपनै हिरदा कवल के मांही, ऐसी ठौर और कहूं नाहीं ॥ १ ॥
चित प्रवाह उलटौ करि लीजै, इतउत कहूँ जान नहिं दीजै ॥ २ ॥
कूरम लौ उलटाइ उर आई, जन तुरसी भज निभवन गाई ॥ ३ ॥

[५७]

धनि धनि ते प्रानी,
जे हरिनाम जपै हिरदै मुषि, बोलै अमृत बानी ॥ टेक ॥
परनिंदा परपंच न भावै, साध संगति मन्हि मानी।
जा सुष मैं यहु जग लपटाना, ता सुषसूं दी कानी ॥ १ ॥
काम न व्यापै नहीं कलपना, कुमति सबै निगरानी।
सुमति सषी की साहि मगजिन, सुरति अगम कूं तानी ॥ २ ॥
अनहद धुनि मैं जाइ समानै, परम जोति परवानी।
जन तुरसी तिनकी बलिहारी, जिन ऐसी गति ठानी ॥ ३ ॥

राग वसंत

[५८]

राम यहु दुष दूरि निवारि मोर। मैं बंदी जन सरन तोर। टेक ॥
कठिन व्याधि घट मैं अनंग, तुम बिचि वहु अंतर पारै भंग।
मैं अनाथ बल नाहीं मोर, गुन इंद्री व्यापै अधिक जोर ॥ १ ॥
मनसा मरपन संग ही लार, निस बासुर लागै बार बार।
रोम रोम विष चढै धाइ, तातै मुरछि मुरछि जीव जाइ ॥ २ ॥
तुरसीदास जन करै प्रकार, विष दूरि निवारि ऊ अबकी बार।
दीन दुषि सरनाई लेव, तुम सुषसागर देवाधि देव ॥ ३ ॥

[५९]

घरि आव ही माइयां वेगि मोर, मैं वेर वेर बलि जाउं तोर ॥ टेक ॥
जैसे चात्रिग पीय पीय करै पुकार, घन बिन जक नाहीं जीय लगार।
ऐसे बिरह निझूरै दरसन काजि, प्रभु तुम बिन मेरौ जनम बादि ॥ १ ॥

तेरी पंथ निहारी हो पीव, बिन दरसन तलफै मेरा जीव।
अब पीव ऐसी करउ आइ, जैस लगै सूरा तन नसाइ ॥ २ ॥
जन तुरसी के आसा तोर, बिन देखे जीव जाइ मोर।
दुखीया सुप दीजै बगि आइ पीय मैं ने लागौं तोर पाइ ॥ ३ ॥

[६]

मन तूं आवरे आव मन प्रीतम करीए सोइ।
सब ब्रह्मांड मगत लोक मैं, ता समि और न कोइ ॥ टेक ॥
निरालंब निजदेव गुसांइ, सब भंजन भगवंत।
सब गुन रहत सकल की जीवनि, सब साधूका कंत ॥ १ ॥
सकल बियाणी सब ते न्यारा सब देवा सिरदेव।
जामै मरे न संकट आवै ऐसा अलख अभेव ॥ २ ॥
सब सुखसागर सब सुखदाता सबका सिरजन हार।
जन तुरसी आवागवन मैटि भज, रायै चरन मझार ॥ ३ ॥

[६१]

नर मिलीयो चाहौ राम कूं तौ प्रथमपर हरि नाम कूं ॥ टेक ॥
आसन साधि उपाधि दूरि करि पांचौ पवना फेरि।
आतम क मस्थान पैसि कै हरि मग हिरदूं हेरि ॥ १ ॥
मन बसी कीजै अनत न दीज साचौ हरिका नांव।
पल महि प्रगट होहि प्रमानद जौ मन राप ठांव ॥ २ ॥
निरति सुरति समि लसि सूरा नाम बिन मिलाइ।
जन तुरसी मन कम बचन यही सूं पद म प्रान समाइ ॥ ३ ॥

[६२]

सखी आनंदकी रति आई।
उलटि सम्यौ मा उनमन सूं मन तलफी बिपा गंवाई ॥ टेक ॥
राग बसत होइ रह्यौ अंतरि बाजै अनहद ताला।
पंच सखी मिलि मंगल गावै उडत बिशांन गुलाला ॥ १ ॥
गुन गन ग्वाल गोप इद्रीजन आइ भए एक ठौरा।
पेलत फाग अभिअंतरि पीव सू आनंद बढ्यौ अपारा ॥ २ ॥

जै जै कार करैं सब कोऊ, गन गध्रप सुर देवा ।
दीन लीन आनद विनोद सू, लागि रहे हरि सेवा ॥ ३ ॥

आनद ही आनद ए जत सपी, जहाँ तहाँ जितकित सोई ।
जन तुरसी वा सुपकी महमा, वरनि सकै का कोई ॥ ४ ॥

[६३]

सपी आज बन्यौ अनूप वसन्त । आनद सू भजो अपनो कंत ॥ टेक ॥
जहाँ सत सगति सोभा अभग, ताहि देपि आनद मावै न अग ।
वैसे गुन गावे गोपाल, तहाँ बाजे विविधि वजहि रसाल ॥ १ ॥
जहाँ उडत अवीर गुलाल अग, तहाँ अरस परस आनद रग ।
जहाँ कोतूहल वढि रह्यौ अपार, तहाँ जै जै जै सब करहि उचार ॥ २ ॥
जहाँ जिति किति साधू सत सोइ, गुन गावै नाचै मगन होइ ।
मानो उमगि सुधा सिंध आए सोइ, सब सभा रही सुपमैं समोइ ॥ ३ ॥
जहाँ सीतल नीर सुगध वास, तहाँ कवल फूले करि रहे विगास ।
जहाँ मधुप रूप साधू, पसोइ, हरि चरन कवल रस रहे भोइ ॥ ४ ॥
जो जो हम विध वरनी सोइ, सो सब घट म जन लपै कोइ ।
तुरसी जो लपै सो सुपि समाइ, जुगि जुगि जम दुप दरसै न आइ ॥ ५ ॥

[६४]

यहु सब देपी स्वारथ की सुनी, ताते त्यागि गए मुनी ॥ टेक ॥

तू मेरा हूँ तेरा यह्व मत, करि करि जु मिले सब लोई ।
जब स्वारथकी कोर घटै, तब कोउ का नहि होई ॥ १ ॥

जब लग लेवदेव लालच कछु, तब लग प्रीति सगाई ।
वहै वाकै वौह वाकै आवै, पूछै कुसल सवाई ॥ २ ॥

ऊपरि मिथ्या हाजी हाजी, पतग कैसो रगा ।
करि करि कै जु मिलै सब कोऊ, अतकाल नहि सगा ॥ ३ ॥

यहु व्यौहार देष्यौ या जगुकौ, उलटि अपूठी आया ।
जन तुरसी चित त्रिगध कोर लौ, लै हरि चरनौं लाया ॥ ४ ॥

राग गौड़

[६५]

दुनीयां सूं क्या मेरा जी मैं दरसन चाहूं तेरा जी ॥ टेक ॥
वासहर मन्यो पार नहीं पार जागिग पंथक सोसै लगार ॥ १ ॥
निसदिन पीव पीव करत बिहाइ पग बिन तनकी तपनि न जाइ ॥ २ ॥
दया करहु दरसहु रघुबीर बरगि बुझावो मेरे तनकी पीर ॥ ३ ॥
जन तुरसी के आस तुम्हारी दरसन देहु दयाल मुरारी ॥ ४ ॥

[६६]

रे नर काहे क इत उत धावै, फिर हाइ क्यूं न राम रस पावै ॥ टेक ॥
ऐ बिषीया बेषीए अनूप अंतकाल है दुष कौ रूप ॥ १ ॥
विषवत जानि त्यागि दे भाई। कबनहि काग जिनाको पाई ॥ २ ॥
यहै जानि उर वसना आवै, मू बिन होइ तेरो दुष नसावै ॥ ३ ॥
अपनहिं हिरदा कवल के मांही। निसि दिन सुमरि आपनो साईं ॥ ४ ॥
जन तुरसी कहै ऐसी करि सेही तौ क्यौं न मिल बै राम सनेही ॥ ५ ॥

[६७]

पावन रूप सत जब आए, जिन देषे मिल नम सिराए ॥ टेक ॥
पाप मग मरहर भै मामी, ज्यूं रवि उदै निसा बिलसामी ॥ १ ॥
गिरही मिह कुस पावम भए भक्ति अंकूर उठ उर नए ॥ २ ॥
जड़ जीवनिकी जड़तागई महाचेतनि और गति भई ॥ ३ ॥
जन तुरसी बे आनदी साध जिन अरपी हरिभक्ति अगाध ॥ ४ ॥

[६८]

देवा तुम दरसन कै काजा हो, भए रंक समिराजा हो ॥ टेक ॥
गज गूजर पारे हाथी, बहु पाइक संगी साथी।
सुत बित नारी सुपरासी सब त्यागि भए बनबासी ॥ १ ॥
छांचे अति कनक अवासं बिच बिच मणिनक उजासं।
हीरे घन माणिक मोती तिन गांठिन बांधी पोती ॥ २ ॥
सुषसेज सिंगासन पार्न ऊपर तानीए बितान।
करते बहु भोग बिलासा तिन छोड़ि दई सब आसा ॥ ३ ॥

दरि बजते बहु विधि बाजा, मानौ घोरि रहे घन गाजा ।
सुन्यौ न परता कान, ते जाइ मडे मैदान ॥ ४ ॥
समि विमल बसन सुभ बामा, रस राग रग बिलामा ।
होते भोपति अधिकारी, ते परतछि भए भिपारी ॥ ५ ॥
सब कुल अभिमान निवारे, भजि गोविंद कारिज सारे ।
जाइ मिले परम सुष माही, तुलसो बहुर्यो न उगाही ॥ ६ ॥

[६९]

देवा तुम दरसनके राते हौ, ते मनिवारे माते हौ ॥ टेक ॥
बिसरे बाजी व्यौहारा कछु रही न तन सुध सारा ।
रसना रुचि अमृत पीवैं, पीवैं निनि जुगि-जुगि जीवैं ॥ १ ॥
उलटि कीया विश्राम, जहाँ कोमल कवल निजधाम ।
तहाँ उठै अनहद नाद, मुनि बिसरे बकवाद ॥ २ ॥
इला पिंगुला आनी सुपमनि मधि फेरि समानो ।
ब्रह्म रध्र कीया बासा, जहाँ देष्या अपड उजासा ॥ ३ ॥
जहाँ जित कित जगमग जोती, वहाँ भरम भ्रान्ति नहिं होती ।
जन जाइ समाने तहाँ ही, तुरसी अतर कछु नाही ॥ ४ ॥

[७०]

देवा आरति भगति तुम्हारी हौ, सो हम लागत प्यारी हौ ॥ टेक ॥
ज्यूं सिसु सोवत भई बहु बारा, आरति बिन कोऊ बूझै न सारा ।
जब ही जागि उठै बिललाई, तबही उछग लइ पितमाई ॥ १ ॥
आरति भगति जब उपजै आइ, तब सूना जीय जागै जाइ ।
रोम रोम ररकार धुनि होइ । सदगति में ससै नहिं काइ ॥ २ ॥
जहाँ धरनि नहिं पवन अकास, ते जन तुया न गुन आभास ।
चद सूर हूं सकै न जाइ । तहाँ आरति सूं सुरति समाइ ॥ ३ ॥
आरति सहित भगति जो करै, प्रभु को नाव न पल बीसरै ।
तुरसी सुष मे रहै समाइ, बहुर न इत जुगि जनमै आइ ॥ ४ ॥

[७१]

देवा ग्यानी भगत तुम्हारे हो। सो तुम्ह लागत प्यारे हो॥ टेक॥

दुष प्रापति भऐं न मरझाहि, सुषकी ममा असप्रहा नांहि।
दुष सुष तजि होइ रहे निनार तिण गुसि देषै सब ससार॥ १॥

सपति सूं मिल भार न जोरै बिपति दषि मुष कबहू न मोरै।
सबस ऐक रस सुदा मंझार हरि सुष बिलसै बारबार॥ २॥

मन मनसा गहि तन म मोह जमकी बाव' न लाग कोइ।
निरभै गांव तुम्हारी लेह कबहूं भैकरि छाडिन देह॥ ३॥

कथम क्रोध समाधि बिचार गाभि अनांनि महिं हिरद धारे।
समता सुष म रहै समाइ जन तुरसी तिन बलि बलि जाइ॥ ४॥

[७२]

भईया हम दसम देस तें आए हौ बेषन अपनो देस॥ टेक॥

जदपि दसम बहु माया भोग तेई भोग पलटि होहिं रोग।
तातें आए प्रभु क मासि अमजी है विश्वके प्रतिपाल॥ १॥

सबदादि पंचौ रस होइ, तहां जोब रहे गुड़ माषी होइ।
दछिन देसकी यह रस रीति तातें छाडि दई यह बिपरीति॥ २॥

पापक मूठ मोमकी पानि दुन्या काम दंभ अरु मांनि।
या तो है सपति की देस, देवकिो मांहिन तहां लस॥ ३॥

उत्तर यहै जहां एक भाइ, दाम चाम निरपवां बिहाइ।
हरिगर संतनि सु महा नेह हतउत भरमत बृथा गोते षेह॥ ४॥

दसन पूरब देस परहऱ्या पंछिम उलटि पयांना कऱ्या।
धनि धनि जिन पछिम कीया बास पेष परम आनंद प्रकास॥ ५॥

सब हरी प्रति लोभी कीया पूरब फरि पछिम तन दीया।
करि इकत आत्मा विचारी बहुरि न उपजिहु यहि संसारी॥ ६॥

ऊठ सरोवर तहां बसि गए तहांके सिव अधिकारी भए।
जन तुरसी समिता सिव सुमाइ परम जोति में रहै समाइ॥ ७॥

राग भैरूं

[७३]

यहु मन मूरिष समझै नाहि, राचि रह्यौ बिषिया बन माहि ।। टेक ।।
भूलौ मायाके सगि जाइ, हरि रस छाडि त्रिषै रस षाइ ।
राम बिना इहै गति जानि, सुष राई दुष मेर समान ।। १ ।।
समझि देष मन मेरा भाई, तेरो हरि बिन जन्म अकारथ जाई ।। २ ।।
जन तुरसी गुर कह्यौ समझाइ, निस बासुर गोबिंद गुनगाइ ।। ३ ।।

[७४]

सोह हसा जाप जु जपना, सोई जन परम जोति परसना ।। टेक ।।
अनिल मदिर मै अनल अस्थापै, अनल जगाइ जुगति सू जा पै ।। १ ।।
गग जमुन सुरसती मिलावै, सनमुष होइ सुष सागर ध्यावै ।। २ ।।
जहा अनहद बजै ग्रजै ब्रह्मड, तेज चमकै महा प्रचड ।। ३ ।।
निरसिघ नूर निरतरि बास, तुरसी निज जन परसै तास ।। ४ ।।

[७५]

जग सू प्रीति करै जिनि कोई हस मूवौ कउवा सगि होई ।। टेक ।।
कनक कामनी बिषफल योई, जिहि देण्या विष व्यापै सोई ।
षाए ते तनको होइ नास, इनका सग तजै सोइ दास ।। १ ।।
अहनिस रहै एक सूं लीन, जैसे पानी माही मीन ।
तव सताप व्यापै नहि कोई, निहचै सब सुष पावै सोइ ।। २ ।।
जन तुरसी ऐसा जन कोई, राम नाम जपि निरभै होइ ।
उनमन ताली रहै लगाइ, आपा तजि हरि माहि समाइ ।। ३ ।।

[७६]

ऐसी सुरति सुमरि हरि नाम, जौ तू चाहै मोछिसुधाम ।। टेक ।।
जैसी सुरति चदहि जु चकोर, चात्रिग चितवे घनकी वोर ।। १ ।।
जैसी सुरति प्यासेकी पानी, अन ही अन क्षषै छुधित प्रानी ।। २ ।।
जैसी सुरति समद्रीनकी आहि, सुरति वसे सुत अपने माहि ।। ३ ।।
जैसी सुरति कूरम अड धरै, त्रिद राषनकी जोगी करै ।। ४ ।।

ऐसी सुरति खिपई परनारि, लोभी परधन हरन मंझारि ॥ ५ ॥
ऐसी सुरति कीटी भ्रंग कीन्ह अरु जस बिछुरत जैसे मीन ॥ ६ ॥
ऐसी सुरति नटनी की होइ बांस चरत चित राख्यौ जोइ ॥ ७ ॥
ऐसी सुरति राम सूं होइ तुरसी सुमिरन कहीए सोइ ॥ ८ ॥

राग बिलावल

[७७]

तन मांझ सुमरि मन सोइ हो ।
निरमल अमल अकल पद पूरन, तामें सुरति समोइ हो ॥ टेक ॥
का जप तप तीरथ व्रत कीये का जग जोगहिं जोग हो ।
निरमल नांव निरंतर हरिको, रसना ही रसना राजाइ हौ ॥ १ ॥
आई जाय सकल भ नास मंसा रहै न कोइ हो ।
मन सिध तन मन आत्ममांही अनि गनि मानव होइ हो ॥ २ ॥
जांमन मरन सबै भय छूटै जन्म न व्यापै कोइ हो ।
जन तुरसी सुमिरन सुखसागर सुष महि बासा होइ हो ॥ ३ ॥

[७८]

री माई कासे कहूँ हरि सुषका बात ।
बिन पाया तिन बिलसीया बिसरैं सुप सातें ॥ टेक ॥
नैन थके रग रूप त रसना रस भूली ।
श्रवन अनाहद नाद मे रहे परसपर झूली ॥ १ ॥
मन तन मे फिर आईया, भ्रमना बिसराई ।
जा घर ते बिछुरे हुते सो ठाहर पाई ॥ २ ॥
बिसीमान भई यासनां उपज्यौ ब्रह्मग्यांना ।
जन तुरसी सुप पाईया सुमरत सुषांना ॥ ३ ॥

राग कलिंगरौ

[७९]

गुर समि दाता कोऊ नाही,
भाव ढूंढौ नव षड भुव तीन लोक माही ॥ टेक ॥
भवसागर अति अथाह नाहिं न वार पारं ।
जुगती नाव चढाइ जनकूं पेइ पार उतारं ॥ १ ॥
जन्म जन्म को जजाल, छिनमैं करै दूरी ।
जुरा मरन रोग काटि देइ सजीवनि मूरी ॥ २ ॥
परम ज्ञान परम ध्यान, परम बुद्धि देवै ।
परम सीतल परस लाइ, यूँ अपना करि लेवै ॥ ३ ॥
सुर नर मुनि दुर्लभ देव, बेद पार न पावै ।
तुरसी तहाँ प्रगट गुरु, पल महिं पहुँचावै ॥ ४ ॥

[८०]

पावन जस गाइ प्राणी प्रीनि सूँ माही ।
इत उत भरम में परि भूलिरे नाही ॥ टेक ॥
त्रिसना अभिमान छाडि, जागिरे सबेरा ।
मन बच क्रम उलटि अतरि, राम सुमरि नेरा ॥ १ ॥
राम सुमरि सुष निधान, सकल लोक साँई ।
जन्म मरन पार जाइ, प्रान मिलै पद माही ॥ २ ॥
जोग मूल जुगति मूल भगति मूल सोई ।
ज्ञान ध्यान सकल मूल, सुगाइ गलित होई ॥ ३ ॥
गाइ गाइ केते पतित, पावन भए भाई ।
सोई जस गाइ विमल, तुरसी मन लाई ॥ ४ ॥

[८१]

ऐसो ज्ञान बिचारहु रे, तौ तुम आपा तारहु रे ॥ टेक ॥
मानि अमृत ससार में औमान जु षारो रे ।
औमानै अमृत गिनै, सोई साधू सारो रे ॥ १ ॥

मान ओमान की आगनि मांझ, दासत सब कोई रे।
वा घर में सउज अरे तौ अधिकार न कोई रे ॥ २ ॥
सम लोष्ठ मम कांचना, दुष सुष समि जानौ रे।
सीत उश्नकी विथा मांनि, मन मं मति आनी रे ॥ ३ ॥
कोउ निंदौ दुष पाइकै सुष पाइसु कोऊ रे।
हरषि हरषि असतुति करै तुलि जांनौ दोऊ रे ॥ ४ ॥
लष चौरासी जीव जंत जलिथलि जिते जानौ रे।
निरवैर होइ सकल मांझ एक ब्रह्म पिछानौ रे ॥ ५ ॥
सकल सासत्र को सारभूत ऐ तौही आही रे।
जन तुरसी सुष सरूप मैं मिलि रही हूँ नांही रे ॥ ६ ॥

राग हमीर

[८२]

मन मेरो दीन भयो गुन गावत।
घरी घरी पल ही पल छिन छिन सुमिरनहीं सचु पावत ॥ टेक ॥
चतुरता तजि चरन चरत उर वाद बिवाद बिर्षै बिसरावत।
प्रेम प्रीति अनुराग सहत निधि गुरगम उलटि उरध कूँ धावत ॥ १ ॥
श्रवन सुनत कीरति हरि माथा नैननि निज सरूप निरतावत।
रसनां रटत नांव प्रभ केरौ निसदिन राम रिझावत ॥ २ ॥
छोड़ अपग सग तजि जगकी जुगति बिचारि मगति चित लावत।
तुरसीदास प्रानपति आगैं छिन छिन मैं सिर नावत ॥ ३ ॥

[८३]

चलि रे जाहि जहाँ तहाँ दुष सुष दोऊ नांहि।
काहे कूँ दग्ध होत अग्यानी या जगु ज्वाला मांहि ॥ टेक ॥
जहाँ जुरा जम को भै नाहीं, बिछरन मिलन न नांहि।
चन्द न बढ़ै सदा ज्यूँ का त्यूँ एक रूप सो आहि ॥ १ ॥
तहाँ धरनि गम पवन न पानी रवि ससिहूँ न उगाहीं।
तुरसी दासा परम जोति मिलि, जुगि जुगि सुष बिलसाहीं ॥ २ ॥

राग कनरा

[८४]

आवौ री सखी हो मिली गोविंद गुन गावै ।
गाइ गाइ प्रीति मूं पीव अपनो मनावै ॥ टेक ॥
अपनै अपनै मदिरन सूं, झूंडन चलि चलि आवै ।
जेनि केनि केहू प्रकार, अपनो राम रिझावै ॥ १ ॥
पाच छठी सातई मिलि, औरहू वुलावै ।
हिरदै राम रूप मे, जल वूद लौ मिली जावै ॥ २ ॥
तीनि लोक भरमै तो ऐसो न औसर पावै ।
जन तुरसी अपने प्रभू कूं मिली, जीति निसान बजावै ॥ ३ ॥

[८५]

आव आव आव हो हरि आवन यहै जु वार ।
तुम आए मम तनमें होइ गो करार ॥ टेक ॥
जौ तुम आए हो नाही तौ हम जीवनि किहि माहि ।
विचिही विलाइ जाही या जु वहती धार ॥ १ ॥
दया करि हरि दरस देउ, दादि दीनकी जु लेउ ।
पूरवौ आसा जू एह, हो अनाथके आधार ॥ २ ॥
मया करि मदिरि जु आवौ, नषसिप आनद वढावौ ।
त्रिवधि ताप जनकौ दुप नीकौ करौ प्रहार ॥ ३ ॥
जन तुरसी अपना जु कीजै, दीन जानि दरसदीजै ।
जीजै जी जे भल देषि कै दीदार ॥ ४ ॥
परम तेज परम जोति परम निज प्रकाश माही ।
मिलि कै आदि अति मधि, मिलीए सुष सार ॥ ५ ॥

[८६]

गहै टेक गोपालहिं गावै ।
सोई अभिन दास है तेरो, देषि दुनी सुष मनको लावै ॥ टेक ॥
जदपि भरे सरोवर सूंभर, जहाँ तहाँ जलही दरसावै ।
तदपि चात्रिग पीवै बूंद घन, तहाँ रुकि अपनो पन न लजावै ॥ १ ॥

देषौ एक मोर हू पतिव्रत सदासिष कै मांझ रहावै ।
सऊ न रुचि पीव चल धारी स्वाति बूंदकी आस कराव ॥ २ ॥
इहपन पकरि भज प्रभु अपनी, आन दवके संग न जावे ।
तुरसी तव न हिए हरि चेरो, बहुरि न भव जल मेरो आवै ॥ ३ ॥

राग उसेनी फलरी

[८७]

जहाँ माई मांच नोसान वगै ।
तहाँ न भै व्याप काहूको, जम डर दूरि भगै ॥ टेक ॥
निरवस होइ पलटि पषौ रिप तोरि भरम तगै ।
तन उलटिय त्रिय ताप रहित होइ मन वानी उमगै ॥ १ ॥
नप छिप करि सब मस पापमुषि पदमैं प्रान पगै ।
उरसे अस्त होइ जाइ दुराजी इक राजीव उगै ॥ २ ॥
रोम रोम आनद सुप उपजै सूता सुरति जगै ।
तुरसी फीके सगहिं विगम रम, चौथ सिव वसगै ॥ ३ ॥

[८८]

अब हम सो धुनि कांनि सुनी ।
प धुनि सुनिवे कूं सुर नर सब उमहे कोटि मुनी ॥ टेक ॥
बिमवर गगम मंडल के मांही मधुर मधुर उपनी ।
बिन रसना तहाँ अषंड रैनिदिन गावे गंध्रप गुनी ॥ १ ॥
झासरि ताल मंदग बीन डफ, भेरिउ अधिक बनी ।
बिधि बिधिक बाजा बाजहिं यहु होइ रही घोर घनी ॥ २ ॥
सो धुनि सुनि सुधि गई सबीरी बिसरे सोक धुनी ।
तुरसी अमस उर जोति प्रकासी तहाँ लै सुरति सुनी ॥ ३ ॥

[८९]

उभै मत एक हम मानी ।
गुरु प्रतीति मासत्र प्रतीति कै मिहचै करिनी कै परवानी ॥ टेक ॥
ज्यूं रवि इन जलमांम विराजत उत अकास देषियत इकलौनी ।
यहु वहु बिंब एक ही जु आहीं जो भरम जाइ बिलाइ गुपानी ॥ १ ॥

यूं जीवसीव सजाती रोछै, औ रबि जाति सब जगु जानी ।
हस ज्ञान उपजाइ विवर हम, भिनि कीए ज्यूं दूधरु पानी ॥ २ ॥
बाचक विरोध अरथ विसारै, सहज बासना करै विलीमानी ।
तब तत पद त्व पद जु एक हौंहि, उरै करै सो मिथ्या ज्ञानी ॥ ३ ॥
यहै भगति वैराग जोग कौ ग्यानहू कै निज फल परवानी ।
तुरसी दह दिसि प्रसै एकही, निजस्वरूप निरषि निरबानी ॥ ४ ॥

राग केदारौ

[९०]

मनारे तू मरि हमंहि जिवाइ ।
तौ तू मीत बडौ उपगारी, जौ ऐसी करै आइ ॥ टेक ॥
जनमत मरत बहौत दिन बीते, कहूँ नही सच पाइ ।
तुम जीवन नाना दुष विलसे, अब किन करहि सहाइ ॥ १ ॥
मानि सबद बीनती अब मेरी, मनोरथ न उपाइ ।
आतम चितवनि मे बौरेलौ, अब काहे न मरि जाइ ॥ २ ॥
जीवन यहु जहाँ तू नाहीं, आपन ऊभै पाइ ।
जहाँ तू तहाँ काहे कौ जीवनि, बढि रही विषम बलाइ ॥ ३ ॥
बहुत कोयौ भायौ मै तेरो, धरि धरि नाना काइ ।
अब विश्राम करि पूरौ दे, जन तुरसी वलि जाइ ॥ ४ ॥

[९१]

हरि बिछूरै मै कहा करू ।
गरभ बास जिन रछ्या कीन्ही, ता साहिब कूं क्यूं विसरू ॥ टेक ॥
जो कछूबालापन मै कीयौ, सो प्रभु सब तुम सूं गुदरू ।
इतनी कहत अबोलै अजहूं, बिन बोलै जिव कहा धरू ॥ १ ॥
दिवस अछित दुष देहनि जउ, और सषी इन सगि मन बौरू ।
अब मोहि रैन राकस भई सजनी, सूनी सेज मै बहोत डरौ ॥ २ ॥
पानफूल मै भोग तजे है, सब सुष परहरि भौमि परौ ।
ता परि विरह भुजग सतावै, या दुष कतहूँ जाइ मरौं ॥ ३ ॥
विरहनि दुपित जानि हरि आए, प्रेम प्रीति पांवडे धरौं ।
तुरसीदास जन भई सुहागनि, तनमन ल हूं पाइ परौं ॥ ४ ॥

[९२]

अब पीव मिले हो परम सुखदाई।
नैननि स्वाति भई सुनि सजनी बहुत दिननकी मेरी तपति बुझाई ॥ टेक ॥
प्रेमप्रीति के बसन पहरिकै, निरति सुरति कांचो गरि आई।
षिमा पवरि तिलक ततु राजै, सील अभूपनकी छबि छाई ॥ १ ॥
बोरिस पथ मग सवरि कू द्वादस वम तहाँ सेज बिछाई।
बिरहनि पीव परसपरि राचे, प्रीति पहुप बरषै अधिकाई ॥ २ ॥
निरमल जोति भई चहु ओरा अनहद धुनि तहाँ टर नाई।
जन तुरसी आनद आरति सूं, समिता होइ सुष सिंध समाई ॥ ३ ॥

[९३]

पीवजी पीवजी पीवजी रटै हमारी जीव जू।
ज्यूं चात्रिग जु रटै निस यन कूं विवसत बहुरंट नींव जो ॥टेक॥
यह आरति अति उर मेरै, लागि रही उर लीव जी।
सुष एक तुम्हारे दरसनकी, और न काहू कीव जी ॥ १ ॥
तीन लोक वारू तुमपर तनमन सदकै कीव जी।
जन तुरसी कूं मिलहु कृपा करि हो सुषसागर सींव जी ॥ २ ॥

राग मारू

[४]

क्यूं जीवै विरहनि बोरी।
जिनको पीव परदेस बसत है सुधि संदेस नहि कोरी ॥ टेक ॥
निरषै मित मननि मम निरमल जैसे चद चकोरी।
अति ही बिकल ह्वे रही रैनदिन हरि दरसन बिन सोरी ॥ १ ॥
घूमत फिरै जहाँ तहाँ सपीपन आतुर दौरी दौरी।
चितमैं चैन नहो दुषभरि लागि रही पीव ठगौरी ॥ २ ॥
अतिही आतुर हरि दरस पियासी रही उभै कर जोरी।
तुरसी के अस सष तब पावै जब बाँह गहै ते घोरी ॥ ३ ॥

[९५]

सषी मेरी नीद नसानी हो ।
पीव को पथ निहारता, सब रैनि विहानी हो ॥ टेक ॥
सब सषीयन मिलि सीष दई, मन एक न मानी हो ।
बिन दरसन कल ना परै, जीय ऐसी ठानी हो ॥ १ ॥
अग छीन ब्याकुल भई, मुष मधुरी बानी हो ।
अतरि बेदनि बिरहकी पीव पीर न जानी हो ॥ २ ॥
ज्यूं चात्रिग घन कूं रटै, मछरी बिन पानी हो ।
जन तुरसी पीव बिन मिले, सुध बुधि बिसरानी हो ॥ ३ ॥

[९६]

काहू सू नेह न करीए हो ।
नेह कीए निहचै सही, बिन पावक जरीए हो ॥ टेक ॥
झूठी जगकी मिलनता, मिलि बधन परीए हो ।
बधन काटि निरबध होइ, काहे न बिचरीए हो ॥ १ ॥
यह जु बुधि बिचारिए, यह पथ पकरीए हो ।
यह माया फद रूप है, तहाँ पाँव न धरीए हो ॥ २ ॥
अति कोऊ थिर ना रहै, देषत सब मरीए हो ।
जन तुरसी तनमन उलटिकै, निजनाव उचरीए हो ॥ ३ ॥

[९७]

चलि मन प्रीतम सो करि लीजै ।
सुषसागर अविनासी राजा, ता सगि आनद कीजै ॥ टेक ॥
काम क्रोध माया मद मछर, इनको सग न कीजै ।
निरमल देव निरतरि पूरन, तहा अमृत रस पीजै ॥ १ ॥
दुष सुष जामन मरन काल भै, नाहि तहा गमि कीजै ।
जन तुरसी आरति सू चलिके परम जोति मिलि जीजै ॥ २ ॥

[९८]

अबकी बेर जो मिलनै पाऊ ।
तो लधि जाउ सकल कृत बाजी, बहुरि न भवजलि आऊ ॥ टेक ॥
आसा षडि अषड अराधौं, त्रिश्ना तरग मिटाऊ ।
जन्म मरनकी ज्वाला लेकरि, हरिजल सीचि बुझाऊ ॥ १ ॥

मनहू प्रीति पवना बव लाऊ, पत्रौ रिप पलटाऊ।
सुपनिधाम साईके सुपमें प्रानहिं साक सहाऊ ॥ २ ॥
बुधि करू धीर नीर विठ रापूं मरम करम नसाऊ।
जन तुरसी अपनै प्रभुकूं मिलि महा सुमंगल गाऊं ॥ ३ ॥

[९९]

अब में कहा करू री माई। मेरे दरद अमि न समाई।
हरि दरसन बिन हिरदै फाटै मेरे नैन रहे झर लाई ॥ टेक ॥
जोब में जकरी लगि रही पीव पीव करत बिहाइ।
कत बिछोह न सहि सकौं मोहि तलफत निसि जाइ ॥ १ ॥
दूरि देस दुलम साई सदेसहू न पहुचाइ।
बिन देषे मेरे जीव दुषी बिरह घुन लौं षाइ ॥ २ ॥
तीबर दुष तन कू जगाव बिथा रही उर छाइ।
सो कोटि जतन कीयऊ न मिटै जो लौं प्रभु न करै सहाइ ॥ ३ ॥
जन तुरसी आतुर बिरहनी कर जोरि बिनै कराइ।
पूरन प्रभूको दरस होइ तौ ही सुफल देह जाइ ॥ ४ ॥

[१०]

बानी भई सावनको पांनी।
जहां तहां कथते ही देषिए करनी कूर अज्ञानी ॥ टेक ॥
पद साषी दमाक सवईया कवित कुडल्या आंनी।
बड़े बड़े मूषि ग्रंथ बिसतारैं पै मर्जे न अलप बिनांनी ॥ १ ॥
सुरति सुमृति सासत्र सतनकी मिरमल मनमैं वांनी।
ताहि सठ स्वप्न न अवगाहै अपकृत ही रुचि मांनी ॥ २ ॥
आछो कथन काइ अमोलिक, महा मोदारी पांनी।
सो कोडी गहि मुषषत वृष पोई, पै प्रभुमूं प्रीति न ठांनी ॥ ३ ॥
इंद्री जोरि जीति मन मनसा परमातम प्रबानी।
तिनकी कथन बदन सब सांची और फोकट सब जानी ॥ ४ ॥
जन तुरसी धमि धमि सत के जिन भी जुगति पहिचानी।
पीर नीर लौं मिलि करि सदा रत भए, परहरि बायक पांनी ॥ ५ ॥

— ० —

सेवादास

सेवादासजीकी साखी

गुर पूरन परमानद है, गुर अबगति आप अनत ।
गुर व्यापक सबही भाड मैं, गुर निराकार भगवत ॥ १ ॥

अनत कला परकास गुर, भयो तिमिर को नास ।
जन सेवादास बदन करै, हिरदै चरन-निवास ॥ २ ॥

गुर गोबिद की वदना, द्वैत भेद कछु नाहि ।
ऐसा जानि प्रनाम करि, सबै विघन मिटि जाहि ॥ ३ ॥

जैसा चदन बावना, सत गुर सीतल अग ।
जन सेवादास दुरमति हरै, गुर करै आपण रग ॥ ४ ॥

गुर पूरा सिष साच गहि, सहजै कुसमल धोइ ।
जन सेवादास तब नृमला, बहोडि न मैला होइ ॥ ५ ॥

मन पवना अर सुरतिकी, अतर माला हेरि ।
जनसेवा कारिज सिध होइ, जग भरमै नहि फेरि ॥ ६ ॥

नाव प्रतीति नृभै भया, भै नहि व्यापै कोइ ।
राम भजत भै मिटि गया, राम भया भै षोइ ॥ ७ ॥

और विणज मन सब कीया, नाव विना सब झूठ ।
जनसेवा सतगुर जब मिलै, तब लीया साच तजि झूठ ॥ ८ ॥

कामीके मन कामणी, लोभीकै मनि दाम ।
तसकर कै मनि चौरीया, यू सताकै मनि राम ॥ ९ ॥

जहाँ लोकबेदकी गम नही, ऐसा तत्त अनूप ।
तहाँ बिलबै सत जन, जहाँ छाया नही धूप ॥ १० ॥

सोधी बिन सुमिरण किसा, गुर बिन लहै न ग्यान ।
भै बिन भाव न उपजै, सब कहै साध बषान ॥ ११ ॥

आठ पहरकी आरती, सता कै घट माहि ।
ज्यूं प्रदेसीकी नारिको, जीव बसै पीव माहि ॥ १२ ॥

प्रथम रसनहि रिदै रटै पीव नाभि स्थान ।
रोम रोम में रमि रह्या, दूसर नाहीं आन ॥ १३ ॥
जैसे कूप उजाड़ि म, बिन जलि कह्यो किस काम ।
यूं नर देही किस कामकी जे समझि न भाग राम ॥ १४ ॥
नाभि कंवल मन सुरति सजि, समटिव हामैं लाइ ।
इला पिंगुला सुषमना, त्रिवेणी तटि न्हाइ ॥ १५ ॥
मन ही सूं मन फिरि मिल्या मन अपम तहां बसि जाइ ।
बिन घन चमक बीजसी तहां रहे मठ छाइ ॥ १६ ॥
सुरति समाणी राम में, ज्यूं नीर समानो लोन ।
जनसेवा अब हठ क्या करै, समझावै कहि कौण ॥ १७ ॥
पीव पुकारै बिरहनी परम सनेही राइ ।
नैना देषूं तुम कूं तब ही नैन सिराइ ॥ १८ ॥
बिरहणि ऊभी दरद सूं, अंतरि करै पुकार ।
करणा सुणि करता मर्म हिलिमिलि दे दीदार ॥ १९ ॥
जब लगि पीव प्रगटै नहीं तब लगि दुषी सरीर ।
जनसेवा बिरह बियोगणी को जाणै या पीर ॥ २० ॥
बिरहणि झूरै रैणि दिन, सासै मन ही माहिं ।
या करक कलेजे माहिली तुम बिन निकसै नाहिं ॥ २१ ॥
नांव निरंजन तुम बिना, मेरै और न आस ।
स्वाति बूंद चातिग पीवै, नां तर मरै पियास ॥ २२ ॥
ग्यान बिरह जब प्रगटी, लाग उठी उर माहिं ।
जिसकै लागी सो लपै, दूजा जाणै नाहिं ॥ २३ ॥
जिहि लागी सो जागि है, सुप सूता संसार ।
रैणि न आव नींदड़ी, प्रीति लगी करतार ॥ २४ ॥
सतगुर मार्‍या मूठि भरि साधि ग्यानकी भालि ।
पांचा थिर थिति पाकड़ी, जन सेवा सकै न चालि ॥ २५ ॥
जन सेवा सत जहां गए तहां बारा मास बसंत ।
हिलि मिलि एकै संगि रमैं, नूनम रस पीवंत ॥ २६ ॥

मन कूं उलटि लगाइये निकटि निरजन राइ ।
पेम पियाला रामरस पीवत ही सुषथाइ ॥ २७ ॥
वेगमपुर तहां गम नही, लहु सतगुर तें भेव ।
जहां चद सूर दिन रैंणि ना, तहां निज अविनासी देव ॥ २८ ॥
बिन ही दीपक चादिणा, बिन सूरज प्रकास ।
जहां सबद अषडत होत है, ता सुषि षेलैं दास ॥ २९ ॥
रामनाम वोषद अजव, रमैं तौ तूटैं रोग ।
ता घट मे भेदैं नही, जा घटि सांसैं सोग ॥ ३० ॥
बदेका कछु जोर ना, जहां पठवी तहां जांहि ।
जहां तहां ले राषीयो, वदा तुमही मांहि ॥ ३१ ॥
मै अपराधी जनमका, कीया पाप अघाइ ।
तुम तजि लागे आन सू, अब राषौ हरि सरणाइ ॥ ३२ ॥
ज्यूं सूता बिसरैं सपदा, यू काया गुण बिसराइ ।
जन सेवा अतर ना रहै, ऐकमेक होइ जाइ ॥ ३३ ॥
हरि सुमिरण हृदै वसैं, मुप तें सीतल बैंन ।
जन सेवा दास ता साधका, दरसण कीया चैन ॥ ३४ ॥
सजन सहन गभीरता, ग्यान गुणा अछेह ।
सेवादास जन जगमें, है परमेश्वर देह ॥ ३५ ॥
जाकी जरि गई बासना, जग सारा गया उठि ।
जन सेवादास धन साध वै, ज्या राम गह्या निज मूंठि । ३६ ॥
गिरि सर वसुधा रतनकी, परष करैं नर लोइ ।
जन सेवा गति अति झीण है, साध परप नही होइ ॥ ३७ ॥
मरकट मति सब त्यागि करि, कूरम मति गहि लेह ।
जन सेवा धनि वे सत जन, मन वृति सब समटेह ॥ ३८ ॥
चात्रिग घन बिन ना त्रिपत, सीप स्वाति बिन नाहि ।
जन सेवा दास हरिजनकी, हरिबिन प्यास न जांहि ॥ ३९ ॥
साधू सलिता जगमें, माही हरि जल सोइ ।
तहां लै प्रान पषालीयें, जन सेवा ऊजल होइ ॥ ४० ॥

जन सेवा संगति साधकी भक्ति निसरणी जोइ ।
पीव पाव रामरस बलि बिष गमै बोइ ॥ ४१ ॥
भगति बीज साधुकी अंतरकै पट पोइ ।
तेल फुलेल जब ही भया तब हिलिमिलि पेल्या सोइ ॥ ४२ ॥
सब जग फर्कि पाषाण है पड़ै जु नाना रंग ।
जन सेवा साधू एक रस जगका संग न रंग ॥ ४३ ॥
धीरजवंत अडिग जन सेवादास जन सोइ ।
जगत बिल ज्यूं देषि करि जन चंचल कबहु न होइ ॥ ४४ ॥
अपणा बैरी आप है जब तन में अहंकार ।
जीवन मृतक होइ रहै तब पावै दीदार ॥ ४५ ॥
सब उपाया एक ही, जल थल जीव अनंत ।
जीव जीव सब ऐक है जाणै कोई संत ॥ ४६ ॥
ग्यानी होइ भुगत बिष सो तो ग्यानी नांहि ।
जनसेवा अमित असंग मन ज्यूं चंदा जल मांहि ॥ ४७ ॥
करणीं बिन कथनी इसी ज्यूं सुपनेका राज ।
करणी बिन क्या पाईये जनसेवा करी इलाज ॥ ४८ ॥
माह नदी जल सबसा बहै न केते जांहि ।
सोई ग्यांनी सोई पंडिता बहै नहीं या मांहि ॥ ४९ ॥
स्वारथके सभी सबै तात मात परवार ।
हुस बटाऊ उठि चलै तब कोई न चालै लार ॥ ५ ॥
पढ़िबो गुणिबो तब भलो जब उपजै भगति भगवंत ।
जन सेवा ना तर पचिमरण सबही भाषै संत ॥ ५१ ॥
चाहि दीपकी मूल है सक न मानै काइ ।
सीष सुबुधि सब छांडिकरि भूसे गही बिनाइ ॥ ५२ ॥
जबही जीव संकट पड़ै तब सगा न सूझै कोइ ।
सगा तौ सिरजन हार का जन सेवा बिसर्‍या सोइ ॥ ५३ ॥
मोह महल में मन सोवै देखी जागै नांहि ।
जन सेवदास ना जीव कै बिना गुरी मन मांहि ॥ ५४ ॥

नैन थका जग अंधला, फिरि फिरि पूजै देव।
देव निरंजन साइकौ, ताको लहै न भेव ॥ ५५ ॥
जन सेवादास संसारका, वडा अचंभा ऐह।
चलता वेडी पगि पडी, मानि रहे सुप ग्रेह ॥ ५६ ॥
यौ संसार सराइ सब, मिले वटाऊ आइ।
नेहा कीजै कूण सू, पल मे बीछडि जाइ ॥ ५७ ॥
राति द्यौंस भटकत फिर्यो, इस माया कै काजि।
सुकृत कीयो न हरि भज्यौ, यू ही गए तन साजि ॥ ५८ ॥
जन सेवा माया थिर नही, जैसे तरकी छाह।
सदा रहै नही ऐक रस, ताहि कहै हम पाह ॥ ५९ ॥
सब जग सूता नींद भरि, तू समझि सनेही जागि।
जन्म अमोलिक जात है, तू हरि कै सुमिरण लागि ॥ ६० ॥
साधू जन सुमिरण करै, गिरही साधू सेव।
ऐ दोइ बात अजब है, मिलै निरंजन देव ॥ ६१ ॥
माया मोह रस जहर पी, मस्त भया मन मोर।
मै अटकू अटकै नही, मुरडि चलै मन मोर ॥ ६२ ॥
मनके वीस ते जीव है, करै नाना रंग अनेक।
मन वसि कीयौ राम ते, ताकै रंग है एक ॥ ६३ ॥
माया मीठी जगत मे, सब जग उलझे स्वादि।
ज्यू मापी गुड मे कलो, यू तन पायौ बादि ॥ ६४ ॥
जन सेवा निद्रा पापणी, आइ अंधारै षाइ।
मिलन न देई राम कू, लीया रसानलि जाइ ॥ ६५ ॥
एक कनक अर कामिणी, दीरघ घाटी दोइ।
या दोन्या आगै ऊबरै, हरिजन कहीए सोइ ॥ ६६ ॥
जन सेवा नारी छाह तै, विषहर बौरा होइ।
ऐसा पिंड असुचि है, सब संता नींद्या सोइ ॥ ६७ ॥
दरव हमारो यू रह्यौ, किरपण सोचै अंत।
ना षाइ सके न परचीयो, ज्यू आया त्यू जंत ॥ ६८ ॥

मीच बिना नब मरन है, तातें भायें नाहि।
पद्मपा भुलावें जगत में मरणां मूझे नाहि ॥ ६९ ॥
पांव मटरि उसम्ां धस, सेवा याम जन मूर।
अन्तर राता ऐक सूं नैणा माहीं मूर ॥ ७० ॥
सूर भई संग्राम ज्यूं आसा ननकी छाडि।
देह महीनी पीव ज्यूं रहै पत पग मांहि ॥ ७१ ॥
सिर साहेबकू मोंगीये मिर दे भऐ सुनाय।
पीछै ही सिर ना रहै मिर मांगेगा माथ ॥ ७२ ॥
जित देषू तित राम ही, बहोरंगी बहोरग।
काहू सों न्यारो नहीं ज्यूं जल मांहि तरंग ॥ ७३ ॥
जैसे जलमें कुंभ है ता मांही जल पूरि।
यूं मन घटि मेरा साइयां नां नेड़ा न दूरि ॥ ७४ ॥
पाप पुनि सुषदुष लूं, तेरा नाहीं जोर।
करता भोगता तूं नहीं तू प्रकासी जोर ॥ ७५ ॥
ज्या साता दुष पावहीं, तैसा सबद न बोलि।
वोपर्न भाव मिलाइये, उलटा बावन छोलि ॥ ७६ ॥
आशा पग छलके सदा भरीया छलके नाहि।
जन सेवा याही पारिया समझि देषि मन माहि ॥ ७७ ॥
तजि दुनीयांकी दोसती करि साधाका संग।
दुनीयां दोजिग ले बहै साधू कर हरि रंग ॥ ७८ ॥
मोपीचद बर भरथरी बलषपलषी पतिसाह।
माया त्यागी जन सेवका समे साईंकी राह ॥ ७९ ॥
साईं रीझे सौंच सूं कूडै काज न होइ।
बिभचारिणि बहो मांम कछि पतिबरता भई न कोइ ॥ ८ ॥
मन तो बिफरै परि गया कैसैं ऊबरै बीर।
सिस्ता तरगस उर बरूयौ तकि तकि बाहै तीर ॥ ८१ ॥
जन अहार चकोर ज्यूं सं पनि सग्रह नाहि।
सुरति न टारे पी सूं अपणे ही उर माहि ॥ ८२ ॥

जनसेवा गम पाई नही, हरि है अगम अगाध।
राह चलै फिरि जगतकी, नाव कहाया साध ॥ ८३ ॥
मनसा बाचा, करमना, अतरि अव गति धारि।
आन कहू चितवै नही, सो पतिवरता नारि ॥ ८४ ॥
नैना देषूं तुझकू, तुम ही नैना माँहि।
जन सेवादास ऐक तुझ बिना, मेरै मनि नही भाँहि ॥ ८५ ॥
अक्षर अछीज कालनही काया, सकल विसंभर पूरा।
बाल न ज्वान जुरा नहि जाकै, सो साई सिरमूरा ॥ ८६ ॥
ग्यान दिष्टि बिन सेवला, जग भूला सब जाहि।
पाहण कू करता कहै, सो डूबै पाणी माँहि ॥ ८७ ॥
कृत्म धरयौ बणाइ करि, सो करता कदे न होइ।
करता परबसि क्यौं रहै, नैन हृदाके षोइ ॥ ८८ ॥
तनमनका कुसमल धोइ करि, साहिब कीजै आदि।
सरप निरालो रहि गयौ, तौ बबई कूटै बादि ॥ ८९ ॥
सर जीवत ही तोडि करि, निरजीव चढावै पात।
जन सेवा प्रगट देषीयै, देषत ही कुमलात ॥ ९० ॥
सगी सोई कीजीऐ, सदा अषड थिर सोइ।
जन्म मरण जाकै नही, सो हमलीया जोइ ॥ ९१ ॥
यौ रस महग मोल कौ, सिर दे सो पीवै।
जन सेवा सोई अमर होइ, अमर जुगे जुगि जीवै ॥ ९२ ॥
हरिरस पी हरि मै मिलै, ज्यू मिसरी पाणी माहि।
जनसेवा साधू यू मिले, दूसर दीसै नाहि ॥ ९३ ॥
सतगुर मारै वाण भरि, सिपका वजर सरीर।
जन सेवादास भेदै नही, ज्यू पाहण मे तीर ॥ ९४ ॥
जन सेवा माया वादली, हरि चदौ दीसै नाहि।
ज्यू दरपण काई आवऱ्यो, मुष नही दीसै माहि ॥ ९५ ॥
जन सेवादास अचिरज है, देषौ इहि ससार।
कुत्ता घेछै गज चढै, जबक सिघ बिडारि ॥ ९६ ॥

झूठे हरिके नाव बिन जपतप तीरथ देह।
चलता पाणी बैल ज्यू रहे न आवे छेह ॥ ९७ ॥

पाप पुन्निकी सकड़ी दुप सुप फल है दोइ।
फल बेसी दून्यू जला तब भए मुक्ति जन सोइ ॥ ९८ ॥

हद्में सब जग बंधीया कोई बेहद भए जसाध।
हद बेहदक मधि रहे सो तौ बात अगाध ॥ ९९ ॥

मधिक पैड़े चालणां दुबध्याहू निरधारि।
रमता राम संमासीमै सो सबका सिरजन हार ॥१००॥

कुण्डलिया

[१]

बलि हारी गुरदेवकी दिनमें सौ सौ बार ।
करम भरम सब मेटि करि, एकनाव दिया ततसार ।।
ऐक नाव दीया ततसार, जीवका भरम मिटाया ।
परापरं पतिदेव अगम सो सुगम बताया ।।
जन सेवा रयि गुरदेव समि, मेटै भरम अधार ।
बलिहारी गुरदेवकी दिनमें सौ सौ बार ।।

[२]

सुमिरण डोरी सतगु पकडाई उर माँहि ।
आठू पहोर लग्या रहै, बिसरै कबहू नाँहि ।।
विसरै कवहू नाँहि एक रस लागा जीवै ।
सतगुरकै परसादि छोडि विप इम्रत पीवै ।।
जन सेवादास अतरि रता, तब भरम सबै मिटि जाँहि ।
सुमिरण डोरी सतगुरु, पकडाई उर माँहि ।।

[३]

सारा सोवै नीद भरि, जिस घटि बिरहा नाँहि ।
षिण में जागै षिण सोवै, बिरहा ता घट माँहि ।।
बिरहा ता घट माँहि, पीडि करि आप जगावै ।
एक राम सनेही चित्त, और कछु मोंहि न भावै ।।
जन सेवादास पुकारिसी, निसदिन मनही माँहि ।
सारा सोवै नीद भरि, जिस घट बिरहा नाँहि ।।

[४]

सबद बिना गरजै सदा, बिन बादल बरषत ।
बीज बिना चमकै सदा, कोई जाणै बिरला संत ।।
कोई जाणै बिरला सत, सबद सतगुरु यू आषै ।
जहाँ बारामास बसत, तहाँ राम इमृत रस चाषै ।।

जन सेवादास ता सुपमें हिलिमिलि पेस संत।
सबद बिना गरजे सन्ा विन बादल बरषंत॥

[५]

रहै निसकी राम जन संक न मानै कोइ।
सुरति बिसारै देह गुण, हरि भजि निरभै होइ॥
हरिभजि निरभै होइ उलटि मन मनहिं समावै।
सुनि सिपम्पर बैसि अगम तहां तासी लावै॥
जन सेवादास साखी हर निज जन कहीयै सोइ।
रहै निसकी राम जन सक न मानै कोइ॥

[६]

अजब इष्ट रहणीं अजब है कठिन साधकी टक।
ज्या तासा साईं मिलै सा है कठिन बमेक॥
सा है कठिन बमेक मामि ममता सब त्याग।
तीन गुणा कू उलंघि सुरति जाइ चौथे लागै॥
जन सवादास भ्रम छाडि करि बै भजै निरंजन एक।
अजब इष्ट रहणीं अजब है कठिन साधकी टेक॥

[७]

कर बोले करही सप सबद सुणै नहि कानि।
बैद रोगी कू दरिकरि, भई रोगकी हानि॥
भई रोगकी हानि सुरति यू अगम समावें।
मन पवना महि फेरि हेरि अंतरि ल्यो लावै॥
जन सवादास पीव पाईया तनमन दूर्के हानि।
कर बोले करही सप, सबद सुणै नहि कान॥

[८]

एक सबद ओपद करै एक घाव करि जाइ।
एक सबद गू मन मिलै एक सबद फटि जाइ॥
एक सबद फटि जाइ दूध म घृत म पावै।
एक सबद बिप रूप एक मानूं इम्रत पावै॥

जनसेवा गाठि षुलै सवद, अर सवद गाठि घुलि जाइ ।
एक सवद वोषद करै, एक घाव करि जाइ ॥

[९]

तू पाती तोडै देव कू, सो देव न जानै मूढ ।
सेवा सति समझै नही, पकडी मनकी रूढ ॥
पकडी मनकी रूढ, ग्यान सोधी नहि माही ।
रमि रह्यौ रमिता राम, भेद ताको नही पाही ॥
जन सेवादास समझ्या विना, अरथ न आवै गूढ ।
तू पाती तोडै देव कूं, सो देव न जाणे मूढ ॥

[१०]

माया बादल जग मै, हरि चदा दीसै नाहि ।
आप अधारै आपकै, भूला दिह दिम जाहि ॥
भूला दिह दिम जाहि, जगत कू साच न दरसै ।
के देवल के महजीद, केई जाइ तीरथ परसै ॥
जन सेवा जग वरिहरि फिरै, पीव बसै घट माहि ।
माया वादल जगमै, हरि चदा दीसै नाहि ॥

[११]

इस मनकी या रीति है, जहाँ तहाँ चलि जाइ ।
कवहुक लोटै छार मै कवहुक मलिमलि न्हाइ ॥
कवहुक मलि मलि न्हाइ, यह अचिरज मोहि भारी ।
कवहुक मन मृतक दसा, कवहुक घोडा असवारी ॥
कवहुक मन विषीया तजै, कबहुक विषफल षाइ ।
जन सेवा इस मनकी या रीति है, जहाँ तहाँ चलि जाइ ॥

[१२]

पतिवरता साचै मतै, कहा काछे वहो भेष ।
आन पुरष सब परहरै, उर मै एक अलेष ॥
उर मै एक अलेष, आन कहू चित न डुलावै ।
तन मन पाचो फेरि, बैसि अतरि ल्यो लावै ॥

जन सेवा दास भ्रम छेड़ि करि सब घट आतम बेधि।
पतिबरता सांचै मतै कहा काछे बही भेष॥

[१३]

नैन बैन हृदै कपट रोम रोम भर पूरि।
घटमें औघट बाट है, राम बिसार्यौ दूरि॥
राम बिसार्यौ दूरि, कुबुधिकी गांठि न छूटे।
खोस कि सोज वयाम जीव कूं जम नित लूटे॥
जन सेवा साईं तुम बिना सबै जन्म में धूरि।
नैन बैन हृदै कपट, रोम रोम भर पूरि॥

[१४]

भक्तिके पैड़े परम सुष परम साच तहाँ नाहिं।
राम भजन आनद सदा, तहाँ हारि जीति दोइ नाहिं॥
तहाँ हारि जीति दोइ नाहिं कसर सब मनकी खोई।
निरमल ग्यांन बिचारि जाति देवै जन कोई॥
जन सेवादास हरि सुष अगम से रातै मन मांहिं।
भक्तिके पैड़े परम सुष परम साच तहाँ नाहिं॥

[१५]

ना काहूं सों बैरता ना काहू सों प्रीति।
सब कछु करि सब तें अगम या साहिबकी रीति॥
या साहिबकी रीति संत तो ऐसी धारै।
राग दोष रिप जीति, प्रीति सूं मांन संमारै।
जन सेवादास गोबिंद भजौ काम क्रोध रिप जीति।
ना काहू सों बैरता ना काहू सों प्रीति॥

कवित्त

सूर लडै स्याम काम राडि करै आठो जाम,
लोभ मोह वैरी सबै सोधि सोधि मारे है।
तत तरवार लीयै सीलकी सनाह अगी
ग्यान की मुरीडी हाथि सब काम क्रोध जारे है॥
दल दोऊ पेलि करि सग राम जीति लिया,
जाइ कै पहूँता जहाँ तहाँ अविनासी प्यारे है।
साधू सान सूर वीर सेवा जन और कोऊ
पिसण पिछाटि करि राम मै सिधारे है॥

चंद्रायण

सूर लडै सग्राम स्याम कै कारणै।
काम क्रोध अहकार क बैरी मारणै॥
कनक कामणी जीति पिसण सब पेलिही।
हरि हा जन सेवादास वैदास राममै षेलही॥

तात मात परिवार दुलहिनी नारि रे।
तू झूठा सुष सू लागि चल्या तन हारि रे॥
ए सबै वटाऊ मीत प्रीति क्यू कीजियै।
हरि हा जन सेवादास, भजि राम जहाँ लगि जीजियै॥

भवर कवल बसि भयौ, गज्ज तब ग्रसीयौ।
यू आणि पहूँतो काल विषै मन रसीयौ॥
मन मीन ज्यू जाणि स्वाद बसि दुष सह्यौ।
हरि हा जन सेवादास यौं मन चौरासी यू बह्यौ॥

पद

[१]

कोई गुर बिन ग्यान न पावै रे।
कहा भयो पढि जग परमोधे, फिरि माया सू मन लावै रे॥ टेक॥
च्यारि षष्ट अष्टादस माधे अरथ वहोत वनावै रे।
लोभ मोह पांचा बसि प्रगट, कहं हरि सुष निज न आवै रे॥

गीता अरथ भामोत बषान बहुत सुनी भरमावे रे।
माहि सांच सो दीसें नाहीं सब मूठ ही मूठ बतावे रे॥
नाभि नासिका बीचि तहां सुष, मन कूं उलटि न ल्याव रे।
जन सेवादास पढ्या क्या होवे, फिरि बिपति मदी बहि जावे रे॥

[२]

साधो सापण सब जग पांधा हो।
जोगी जती तपी सन्यासी, माया बंधन बांधा हो॥टेक॥
तीनि लोक मय जाल पसार्या सुरनर सब गटकाया हो।
बनपति जीव सबै बसि कीया, बिष हेत लपटाया हो॥
भाँति भाँति करि मोहे माया नाना रूप बणाया हो।
माइ बहण अरु भूमा भतीजी भामण होइ भरमाया हो॥
अमर जड़ी जोगी महि निरमय तब काल डांपे काया हो।
जन सेवादास सतगुर के सरणैं सांपण दांत पड़ाया हो॥

[३]

सनेही दावि सुनैं नहीं मोर।
में प्यासी तुम बरसकी यूं करि रह्यो चित कठोर॥टेक॥
बरषण बिन दुष तन में, मोहि दरसें नाहीं पीव।
ताना बेली रवि दिन यू दुष पावै जीव॥
अवधि बदी ती कहां बटे सुणि हो पीव पुकार।
सेवा जनकूं दरस द्यौ, मेरे सम्रथ सिरजन हार॥

[४]

सोई सुहागण पीव मनि भावै।
आन पुरुष सूं अंग न लगावै॥टेक॥
दुष सुष मांहि रहै रस एकै।
कंत रिझावै तनमन देकै॥ १॥
धन जोबन सूंपै सोनारी।
ताहि पीठ न छाडै वा सदा पीयारी॥ २॥
पीव पिछाणै रहै घर आंगणि।
जन सेवा कहीए सोई सहागणि॥ ३॥

[५]

अब मनकी दुवध्या भई दूरि ।
ग्यान भाण अतरि उजियारा, तब देषे राम सकल भरपूरि ॥ टेक ॥
ज्यू कचन तै भूषन नही न्यारा, कुभ मृतका भिन नाही कोई ।
यू एकं राम सकल विस व्यापक, और न दूजा कहीऐ कोइ ॥
ज्यू पट तत भेद नही भासै, यू अभेद अवगति राइ ।
जन सेवादास पूरण अबिनासी, सो सब घटि रह्या समाइ ॥

[६]

ऐक अचभा ऐसा भया, उलटि स्याल सिघ कू गह्या ॥ टेक ॥
बकरी उलटि चीता कू घेर्‌या, फिरि मूसै गही मजारी ।
सुसै स्वान कू बन मे घेरया, अब भया अचभा भारी ॥
फिरि सिघ गाइकी रछ्या करही, मीडक साप वसि कीया ।
मकडी कू माषी गहि राषी, चिडै सिचाण गहि लीया ॥
फिरि मुरगै दौडि बिलाई पकडी तीतर सिकरा मार्‌या ।
मृघ भीलकू चौडै रोक्या, दादर सरप सिघ डार्‌या ॥
राज करै बाझकै बेटो, अरिदल सबै सिघारै ।
जन सेवादास सोई जन सूरा, या पदका अरथ बिचारै ॥

[७]

साधो सतगुर पूरा पाया । मन कूं फेरि सहज घरि लाया ॥ टेक ॥
केई कहै बैकुठ बसीजे, वैकूठ रहै कै जासी ।
हमकू तौ सतगुर समझाया, सुरति निरजन बासी ॥
तीरथ बरत जोग जिग तपस्या, एकरत रोग बढि जाई ।
जन सेवादास सोई समझि सयाणपण, सब तजि हरि गुण गाई ॥

[८]

भूलारे जग साच न दरसै । कै पाहण कै पांणी परसै ॥ टेक ॥
जे यहु पाहन देव कहीजै तो चोडै बैठा काहे भीजै ।
आषा भोपा कूकर चाटी, जग आषिन सूझै हिरदैटाटी ॥

वो मुर्ख सूं मोहिन देव ज्वाब, तासूं लागिन पोबो आब।
उपरिलिख प्रतिमा माहीं। वो मारे यो तार माहीं।
ब तारण हारा तीरथ कहाव सो मसक आपुकूं काइ लगावें।
सबही उपसे परम मझारा सर्वाम न मुमिरे तारन हारा।
पाहण बुबै पाणो सूके मांच बिना मर यूंही कूकै।
रीसन मामी कथा सुणि साची मुक्ति न होसी बात फांचो।
साचा सबब हिरदे धरि पथी। वो रमता राम सकल घट दयी।
जन सेवादास समझौ अविनासी। ज्यूं कट सकल काल अमपासी।

[९]

ऐसें साध समाधि में पीव इम्रत धारा।
सुनि सिषर में रमि रह्या जहां जोति अपारा ॥ टेक ॥
सुरति निरति लागी रहै पल तार न तोड़।
इला पिंगुला साधिकै अवगति सूं जोड़ ॥
तीन्यूं तजि चोथै लगै सोई जन सूरा।
पांचूं बस करि मा सकै बाजै अनहद तूरा ॥
अगमपीया सायमका अनहद रस पीव।
आठ पहर घूमत रहै, स माया जीवे ॥
अगम बस्त अंतरि बसै, तहां रह्या समाई।
जन सेवादास आनंद भया, सुध कह्यां न जाई ॥

[१०]

बरजत हारयो नाम जी समझ नहीं अयाना।
विषै बिकारा फिरि धरै मन मस्त दिवाना ॥ टेक ॥
मन कुबटही अमसरै भूरिष सठ बोरा।
पापी गेल मा चलै हूं बरत निहारा ॥ १ ॥
राति बोम ममताइयो है व नहीं ग्यांना।
मुरदे सम न ऊपजे बिषहीं मूं ध्यांना ॥ २ ॥
जैसा बैरी मन है तैसा नहीं कोई।
नीगा पटकै देवता जे गाफिल होई ॥ ३ ॥

सतगुर सबदा वेधीया, मन जाण न पावै।
जन सेवा थिर होइ नाव सूं, मन उलटि लगावै ॥ ४ ॥

[११]

कुदरति करता करि रह्यौ, वाणिक धर्यौ वणाई।
तू काहे चिंता करत है, गोविंद गुण गाई ॥ टेक ॥
गरभ कसोटी साकडै, दीयौ प्राण अधारा।
सो क्यूं भूल बावरे, भजि लेहु सवारा ॥ १ ॥
जा दिन जननी गरभ है, बाहरि तू आया।
देषौ ग्यान बिचारे कै कहा दमडा ल्याया ॥ २ ॥
जन सेवादास विसराम गहि, भजि परम सनेही।
चिंता सिरजन हारकूं, सोई भल देही ॥ ३ ॥

[१२]

नट ज्यूं या मन नाचिहै काछै बहौ भेषा।
आदर मान बडाईया, मन तजै न रेपा ॥ टेक ॥
कबहु मन बहौ तप करै, काया कसि तोडै।
कबहु मन बिषिया तजै, कबहु फिरि लोडै ॥ १ ॥
दाता होइ मन दान करै, फिरि जाचिग होइ जाचै।
कबहू मन माया तजै कबहु फिरि राचै ॥ २ ॥
मन पात्र अगनि मुषि तापि है, तीरथ बहौ करही।
सकट ब्रत मन साधि है, फिरि फिरि तन धरही ॥ ३ ॥
बस्ती तजि मन बन बसै, फिरि बस्ती आवै।
इहि मनकी या रीति है, बहौ नाच नचावै ॥ ४ ॥
जन सेवा मन गति क्षीण है, जाणै जन पूरा।
दमू दसा गू केरि कै गहि राषै सूरा ॥ ५ ॥

[१३]

साध सदा ही सुरसरी मेरै तपति पीयासा।
उनकी सगति कीजियै, सुषमांहि निवासा ॥ टेक ॥

भरम मिटावै जीवका दे अजपा जापा ।
त्रिबिधि ताप दुख जीवकी कोई रहै न तापा ॥ १ ॥
उर आनंद उपजाइ कै, दुरमति सब धोवै ।
कल्हि कलपना जीवकी, सब ही जन षोवै ॥ २ ॥
मुक्ति भक्ति लसे नहीं तब ऐसी बनि आवै ।
जनसेवा भावुसम हैं, निरभै पद पावै ॥ ३ ॥

[१४]

हरिरस गाते संत जनां ।
प्रकटम लगा रहै निसि वासुर नांव न बिसरै एक छिनां ॥ टेक ॥
पी मतिवाला मगन भया मन और न भावै राम बिनां ।
निरभै भया निरंतरि ऐसा है सुमिरन मांहीं सुष घनां ॥ १ ॥
तनमन फेरि प्रेमरस पीवै तब जन्म मरण दुष दूरि भजै ।
सुमिरै एक भरम तजि दूजा, तेई जमकै सोक नसै ॥ २ ॥
आनद बरत गहै, उर अंतरि आनद दूजा चित धरै ।
जनसेवादास भक्ति सुष बिलसै, हरिभजि अपणो काज करै ॥ ३ ॥

[१५]

अवधू नांव निरंतर लीजै ।
मन पवनां समि राषि अंतरि में, यहु आरंभ निति कीजै ॥ टेक ॥
मूल बन्धबंध दे करि बाई पट चक्रमें ल्यावौ ।
उनिमनि रहौ निरंतरि ऐसा, अनहद बेन बजावौ ॥ १ ॥
छसै सहस इकीसकी माला यूं मन लावौ ।
अनहद उपजै आप यूं उर अंतर जावौ ॥ २ ॥
इड़ा पिंगला सुषमनि कै घरि जतन जतन करि ल्यावौ ।
निरभै पका निरंजन परसौ बहौरि न पुनी आवै ॥ ३ ॥
चित चोकीसे चरणा राषौ पांचू उलटि समावौ ।
जनसेवादास सुषकी सिंध पैसो ज्यूं बहौरि निकसि नहीं आवै ॥ ४ ॥

[१६]

ऐसा जाप जपै मन भाई, जुरा न व्यापै काल न पाई ।
गगन गुफामें आसण करो, तनमन पवना दिढ करि धरो ॥ टेक ॥

अरध उरध मधि चोक पुराइ । मास उसासे अजपा गाइ ।

त्रिवेनी तटि धारो ध्यान । अह निस पोजो पद नृवाण ।
जनसेवादास या सतगुर सीप । रामनाम तजि भरै न वीप ॥

[१७]

सतो वो सुष सब तै न्यागरे । कोई जाणै सत पीयारा रे ॥ टेक ॥
जहाँ झिलिमिलि झिलिमिलि नूरारे । जहाँ वाजै अनहद तूरारे ।

जहाँ बिन करताल बजावै रे । तहाँ बिन रसना गुण गावैरे ॥
जहाँ गगन मडल के छाजै रे । तहाँ मुधर मुधर धूनि बाजैरे ॥

त्रिवेणी तटि न्हावै रे । सो सुष ही मे सुष पावै रे ।
जन सेवा को सुष पूरा रे । कोई देषै साधू सूरा रे ॥

[१८]

कबीर जहाँ तै आइया हो अहो जहाँ जाति बरण कुल नाहि ।
अवगति सूँ चलि आइया हो, मरम न जाणै कोइ ।

भगति करन कूँ प्रगटे, राम कबीर नही दोइ ।
जूनी जन्म नही है जाकै, गरभ कसोटी नाहि ।
निराकार अविनासी देवा, प्रगट भए कलि माहि ।

जाकै हाड न मास तुचा नही नाडी, तेज पुज प्रकास ।
जुरा काल जाकै नही निरभै, जन गावत सेवादास ॥

[१९]

सषी हौ भाग हमारे पूरा ।
पेमू सर सब सत पाच संगि बाजै अनहद तूरा ॥ टेक ॥
इला पिंगुला समि करि राषू, मधि सुषमनां आनी ।
पांच सषी मिलि पवन लागी लो घर भरे न पानी ॥
घर घर आनंद होत परमसुष, सुनि मंडल कै छाजै ।
परमातम सूं आतमभेला देषि मधुर धुनि बाजै ।
मन निहचल निरमै सुष सागा परमसुष मन पाया ।
जन सेवादास आनंद सुष बिलसे सतगुर अलष लषाया ॥

[२]

आरती तेरी अलष अभेवा । निरभ नाथ निरंजन देवा ॥ टेक ॥
वार न पार अगम गम नाहीं रमता राम रमै सब मांही ।
सोम न मास हल ना नहीं भारी । अनत भवन में जोति तुम्हारी ।
सबकै माहिं सकल तै न्यारा । ज्यूं रवि गगन करत उजियारा ।
अघल अघट अबिनासी राया । रूप न रेष कास नहीं काया ।
अनहद सबद सहज झणकारा । नूर तेज दीदार तुम्हारा ।
ग्यानका दीप मिट्या अंधियारा । झिलिमिलि जोति सकल उजियारा ।
अलष निरंजन त्रिभुवन राया । जन सेवादास सरणि तेरी आया ।

●●●

परिशिष्ट

कतिपय सहायक पुस्तकोंकी सूची

मुद्रित

१ मिश्रबन्धु विनोद — मिश्रबधुओ द्वारा लिखित
२. हिंदी कवितामे योग प्रवाह — डॉ बडथ्वाल द्वारा लिखित
३. शिवसिंह सरोज — शिवसिंह सेगर द्वारा लिखित
४ हिंदी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास — रामकुमार वर्मा " "
५ हिंदी साहित्यकी भूमिका — हजारीप्रसाद द्विवेदी "
६ साहित्य सर्जना — इलाचंद्रजी जोशी "
७ उत्तर भारतकी सत परपरा — परशुराम चतुर्वेदी
८. निर्गुण साहित्यकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि — गोविन्द त्रिगुणायत
९ दि मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया — क्षितिमोहन सेन
१० दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोइट्री — पीतावर दत्त बडथ्वाल
११ वन् हड्रेड पोयम्स् ऑफ कबीर — रवीन्द्रनाथ टैगोर
१२ आउट लाइन्स ऑफ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया — जे एन्. फर्कुहर
१३ कबीर ऐण्ड हिज फॉलोवर्स — डॉ के
१४ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इडिया (अक ९ भाग २ और अंक ६–राजस्थानी व मध्य पूर्व)— " डॉ. ग्रियर्सन
१५ साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड इथिक्सके निरंजन, साधना, निर्गुण प्रकरण तथा बुद्धिज्म
१६ नागरी प्रचारिणी पत्रिका स १९९७ वैशाख
१७ कल्याणके वेदात अक, योगाक तथा गीता तत्वाक ।

हस्तलिखित (पूना विश्वविद्यालय)

१८. संतबानी संग्रह
१९. सर्वंगी — रज्जब
२ सेवादासकी साखी
२१ बानी पद ग्रन्थ आदि
२२ गीतामाहात्म्य भाषा — भगवानदास निरंजनी
२३ वैराग्य वृन्द ,,
२४ अमृतधारा ,,
२५ ज्ञानचूरन वचनिका — मनोहरदास निरंजनी
२६ शतप्रश्नोत्तरी — मनोहरदास निरंजनी
२७ ज्ञान मंजरी — मनोहरदास निरंजनी
२८ षट्प्रश्नी निर्णय — मनोहरदास निरंजनी
२९ एकादशी महात्म्य — सरयूदास निरंजनी
१ दादूबानी